UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180189

UNIVERSAL
LIBRARY

ग्रहण के बाद
H83.1
N22G
मानस मन्दिर जबलपुर

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H83.1/N22G Accession No. G.H.1099
Author नरेन्द्र
Title ग्रहण के बाद / 1951
This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रकाशक—
मानस मन्दिर,
जबलपुर।

मूल्य—२।)

मुद्रक—
साहित्य प्रेस,
जबलपुर।

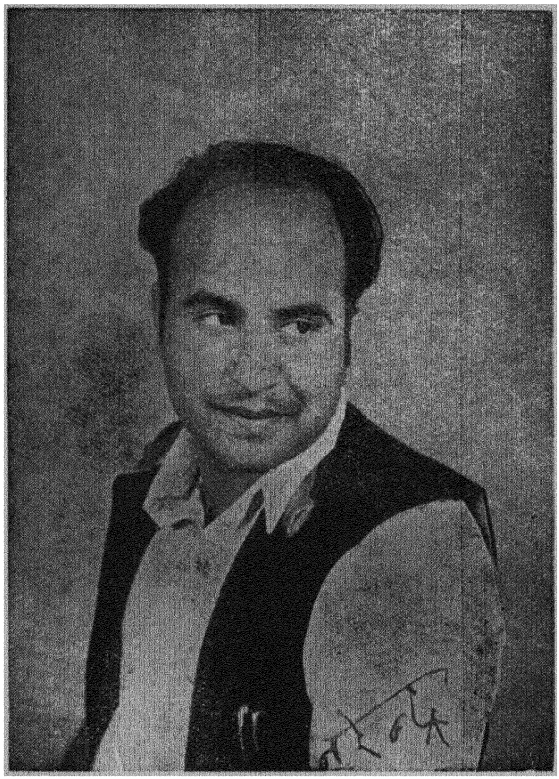

समर्पण

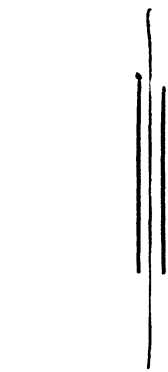

जीवन के पिछले सात वर्षों को'—

—नरेन्द्र.

दो शब्द

यह मेरे लिये कम हर्ष की बात नहीं है कि मैं नरेन्द्रजी के कथा-संग्रह के संबन्ध में दो शब्द लिखने का अवसर पा गया हूँ। नरेन्द्रजी मध्यप्रान्त के तरुण साहित्यकार हैं, और अब उनकी अच्छी कीर्ति-वृद्धि हो रही है। जब मैं उनसे परिचित हुआ था तब वे फर्स्ट-इयर क्लास के विद्यार्थी थे। उस समय मैं इलाहाबाद की 'छाया' नामक मासिक पत्रिका का सम्पादक बन गया था। तभी उनकी पहली कहानी मुझे मिली। उनकी उस पहली कहानी में भी शैली की वह विशेषता थी कि उसने मुझको आकृष्ट कर लिया। इसके बाद उनकी कुछ और कहानियाँ मैंने प्रकाशित कीं। आख्यायिका के लिये जो भाषा और शैली चाहिए उसका स्पष्ट रूप उनकी उन प्रारम्भिक रचनाओं में भी विद्यमान था। मुझे विश्वास हो गया कि वे हिन्दी के एक अच्छे आख्यायिकाकार होंगे। उनमें आख्यायिकाकार की सहज प्रतिभा है। तबसे मैं भिन्न-भिन्न पत्रों में उनकी कहानियाँ बराबर पढ़ता आया हूँ और देखता आया हूँ कि उनका कथा—नैपुण्य एक विशेष दिशा की ओर विकसित हो रहा है। उनके इस कथा-संग्रह को देखकर मैंने समझ लिया कि अब उनकी एक विशिष्ट कथा शैली हो गई है जो उन्हें मध्यप्रान्त के अन्य आख्यायायिकाकारों से प्रथम रूप देती है।

साधारणतः आख्यायिकाओं की एक कथा-वस्तु होती है। कोई एक घटना, कोई एक भाव कोई एक बात, कोई एक परिस्थिति आख्यायिकाओं में ऐसी मुख्य हो जाती है कि उसी की ओर पाठकों का ध्यान चला जाता है और उसी की समाप्ति में कथा की सम्पत्ति हो जाती है। जिसके आगे क्या हुआ यह जानने का कौतूहल नहीं रह जाता है। एक झलक मात्र से ही पात्र की चरित्र-गति विशेषता भी प्रगट हो जाती है। जिस हर घटना, बात या परिस्थिति की ओर लेखक पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर उनमें औत्सुक्य उत्पन्न कर देता है उसी को क्रमशः विकसित कर वह कथा के अन्त में उसकी परिणति प्रदर्शित कर देता है। कथा के इसी आरम्भ विकास और परिणति में

आख्यायिकाकार का कथा-नैपुण्य लक्षित होता है। इसलिये अधिकाँश कथाकारों के लिये कथा-वस्तु ही सबसे प्रधान होती है। नरेन्द्रजी की कहानियों में कथा-वस्तु का अभाव है। उन्हें अपनी आख्यायिकाओं के लिये कोई विशेष घटना, भाव या परिस्थिति सोचने की आवश्यकता ही नहीं है। घर के भीतर और बाहर, होटल, दूकान और सड़क सभी जगह उन्हें अपनी कहानियों के लिये विषय मिल जाते हैं और विषय के अनुकूल पात्र भी। बात यह है कि नरेन्द्रजी की दृष्टि बहिर्जगत को अतिक्रमण कर अन्तर्जगत् में ही प्रविष्ट होती है। कविताओं की तरह भिन्न भिन्न भावों की पुष्टि कर वे पाठकों के हृदय में भिन्न भिन्न रसों का उद्रेक एक ही साथ करती हैं।

पहली कहानी 'इंसान की माँ' है। इसमें आतंक बर्बरता, प्रतिहिंसा और पाशविकता के उन्माद के साथ करुण और विवशता का ऐसा चित्र अंकित किया गया है कि हृदय काँप उठता है। इसी प्रकार सभी कहानियों ने सूर्यास्त के तम में विलीयमान वर्षा वैचित्र्य की घटा की तरह विभिन्न भावों के मेल से मानव-जीवन की जो सुख-दुखमय लीलायें प्रदर्शित हुई हैं उन सभी के बाद घोर अंधकार का सा नैराश्य, कष्ट, दुर्भिक्ष का शून्य विस्तार है जो कि देश की वर्तमान परिस्थितियों का पूर्ण प्रतिबिम्ब है।

घटनाएँ साधारण हैं, चरित्र साधारण हैं। इसके भीतर भावों का मर्मस्पर्शी वर्णन किया गया है। इसी से एक एक कहानी ने एक एक भाव चित्र का रूप धारण कर लिया है। कहीं शराब के उन्माद के भीतर विवशता की वेदना है और कहीं अभाव की प्रच्छन्न वेदना के साथ क्षणिक तृप्ति का उल्हास है। इन सबके ऊपर उनकी विशिष्ट शैली और अपना दृष्टिकोण है। इसमें सन्देह नहीं कि भावों के प्रदर्शन में नरेन्द्रजी को अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। मुझे आशा है कि भविष्य में नरेन्द्रजी कथाकार के रूप में और भी अधिक ख्याति प्राप्त करेंगे।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

मेरी बात

ग्रहण के बाद आपके सामने है। इसलिये विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। हाँ अपने उद्देश्य के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। इस संग्रह की अधिकांशतः कहानियों का आधार और काल उस दिन से आरम्भ होता है जब देश दो भागों में दो विभिन्न नामों से बँट गया था। साम्प्रदायिकता के धुएँ ने अपना प्रभाव इतना जमा लिया था, कि धर्म का भूत मानव के साथ देश की जमीन कारखाने और इमारतों तक पर पड़ा। इस धुएँ के धुन्ध में मानवता का पथ छिपता जा रहा था। यद्यपि आज बहके हुए मानव की मनस्थिति में अन्तर मात्र पड़ गया है किन्तु वह आज भी बहका हुआ है और विपथ पर है।

साम्प्रदायिकता के जहर और उसके भयानक परिणाम को, जो अब भी मिट नहीं सका है, एक ग्रहण मानता हूँ। इस ग्रहण ने मानवता को बुरी तरह जकड़ा है।

ऐसी विषम परिस्थिति में यह एक लेखक का कर्तव्य हो जाता है कि वह इस विषमता का मुकाबला करे, विरोध करे। इस मुकाबले और विरोध में मेरा विश्वास है। मैं साहित्य को जीवन और जगत के भीतर की वस्तु मानता हूँ। मानवता के पथरीले पथ को प्रशस्त करते चलना साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है। इसी उद्देश्य को लेकर मेरी कलम ने अपना कर्तव्य निभाया है। मैं यदि किसी बारे में विश्वास भी करता हूँ तो वह केवल 'मानवता' का नारा है।

यही कारण है कि मेरी कहानियों के पात्र मेरे ही आसपास के लोग हैं, जिन्हें हर गली-कूचे, होटल और रास्तों पर देखा-समझा जा सकता

है। अपने इन्हीं आसपास के लोगों का सुख-दुख, पीड़ा, विरोध, संघर्ष और उद्देश्य इन कहानियों के पाशों में प्रवाहित हो रहा है। यह उनका है, आपका है, मेरा है, उन सब का है जो इस विषमता की खाई से उठकर समानता और माननीयता की धरती पर पहुँचकर साँस लेना चाहते हैं।

यह मेरे उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। अगर कमी-बेशी है तो साथ ही कहानियाँ उपस्थित हैं।

वसंत पंचमी।
संवत् २००७
मोदी बाड़ा, जबलपूर।

नरेन्द्र

—: विषय-सूची :—

				पृष्ठ
१	इंसान की माँ	..	...	१—९
२	पैरोल पर	...	...	१०—१७
३	कुसुम	...	...	१८—२४
४	उपकार	...	...	२५—३०
५	जीता कौन	...	...	३१—३५
६	एक नारा	...	...	३६—४१
७	पुन्ना की दूकान	...	...	४२—४८
८	खोये हुए लाड़ले	...	...	४९—५४
९	भूख की तस्वीर	...	...	५५—६२
१०	हवलदार रामसींग	...	...	६३—७५
११	सौदा	...	...	७६—८२
१२	कलाकार की आत्मा	...	...	८३—९०
१३	जलेबी	...	...	९१—९६
१४	बहुत अच्छा आदमी	...	...	९७—१०५
१५	ग्रहण के बाद	...	...	१०६—११६

—: आगामी प्रकाशन :—

"इंसान की माँ"

प्रगतिशील कथाकार नरेन्द्र जी की प्रौढ़
लेखनी द्वारा अभिभूत यह यथार्थवादी
उपन्यास द्वितीय महायुद्ध जनित
परिस्थितियों का एक
मौलिक चित्रण
है।

'इंसान की माँ'

उस्मान ने ठण्डे कबाबों को उँगलियों से छूकर एक तरफ आगे को सरका दिया; और बिलकुल सामने बैठे हुए आदमी को तथा उसके सम्मुख रखी अँगीठी को देखने लगा। लम्बी-लम्बी सींकों में लिपटा हुआ कबाब भुन रहा था: और उस्मान बारीकी से उस आदमी के द्वारा उन सींकों का उलटना--पुलटना देख रहा था। तभी समीप आकर एक लड़के ने कहा; दूसर ले आऊँ.....?

उस्मान ने अपनी आँखें उस पर मोड़ लीं। लड़के की लापरवाह जिन्दगी पल भर में उस्मान के आगे थिरक गई; उदास बोझिल मुख पर हँसी उतर आई। ओंठ से ओंठ दबाए हुए उसने कहा—मगर जरा गरम गरम...! और, लड़का उस्मान के सामने मैला कपड़ा फेरता; सीटी बजाता चल पड़ा...!

उस्मान के ओठों से फूटती हँसी लड़के की गति के साथ छिपती गई। वह खामोश निगाहों से भुनते हुए कबाबों को देखने लगा; और देखता रहा उसका भूरा-भूरा रँग, जो अब गाढ़ा बादामी पड़ता जा रहा था। उसकी सौंधी-सौंधी महक में वह होटल का कमरा, आगे की सड़क, बाजू की पान की दूकान सब महक रहे थे। और उन सींकों के आगे बैठा हुआ मोटा--ताजा काला आदमी केवल तहमत लपेटे बड़े मजे के साथ उन्हें उलट-पलट

रहा था। उस्मान सदा उसे यूँ ही देखा करता था, जैसे बस भूँजना ही उसके जीवन का आदि और अन्त था। वह सोचता—जाने कितने बकरे इसने ऐसे ही सींकों में लपेट-लपेट कर भून डाले होंगे, आगे भी जाने कितनों को इस प्रकार भूनेगा। जब कभी इससे कोई कहता—मामू आज बड़े मजे के बने हैं कबाब...!

तब उसके काले पसीने की बूँदों से भरे मुख पर बारीक सी सिहरन हो जाती; वह तनिक आँखें उठा पुनः अपने भुनते हुए कबाबों को सदा की नाईं बड़े गुरूर से सेकने लग जाता...।

लड़के ने खट से दूसरा प्लेट लाकर उस्मान के आगे रख दिया; और उस्मान के चेहरे की ओर देखता हुआ चल पड़ा। उस्मान अब अपने आगे की सोंधी खुशबू का धीरे-धीरे मजा लेने लगा था। लेकिन, इस मजे की मुद्रा के पीछे भी मुख की गम्भीरता सजीव बोल रही थी। उसकी चंचल आँखों की कोरों में गहरी उदासी छलछला रही थी। वह सिर झुकाये बैठा हुआ था। पीछे कोई कर्कश आवाज में उबल रहा था—क्यों बे इतना गन्दा पानी...? और भी बहुत सी शिकायतें हो रहीं थी, लेकिन उन सब का जवाब था उस लड़के की बेपरवाह हँसी। साथ ही झट आगे-पीछे होता हर किसी का मुँह बन्द करने की कोशिश कर रहा था। उस्मान के सामने से निकलता, पूछता गया—क्या सालन ले आऊँ भाई जान...? उस्मान कुछ कहे कि बीच में ही किसी ने भारी आवाज में कहा—अबे ओ लियाकत, कबाब ले आ...। और, वह 'हाँ...हाँ'...करता उस काले आदमी की ओर लपक गया...।

उस्मान ने फिर मुँह नीचा कर कबाब सूँघा। धीरे से उँगलियाँ बढ़ाने लगा; साथ ही उसके मुँह पर ऐसा भाव उतर आया, जो कह उठा हाँ ठीक है, बिलकुल ठीक है.....।

लड़का सालन की प्लेट आगे सरकाता हुआ चला गया। उस्मान की गम्भीरता कुछ ढीली पड़ गई। साथ ही उस लड़के के ओझल होते ही मुख पर मलिन पड़ गयी। वह खोई आँखों से आगे की वस्तुओं को देखने लगा, जैसे यह किसी के अभाव का अनुभव कर रहा था; और भी जाने कब तक वह इसी अवस्था में बैठा रहता; मगर बाजू से निकलते हुए लड़के ने टोका—भाई जान फिर न ठण्डे हो जाएँ।

'ठण्डे'...! उस्मान चौंक कर सम्हल गया। आगे रखे हुए कबाब पर हथेली रखते हुए अनुभव किया—हाँ ठण्डे हो ही रहे हैं...। कबाबों पर कुछ चिकनाहट थी। उससे एक छोटा सा टुकड़ा उठाकर अपने मुँह में रख लिया। मुँह चलाने लगा; बिना किसी विशेष रुचि के मशीन की तरह दो एक टुकड़े और भी उठाये, उन्हें भी उसने मुँह में डाल लिया। उन्हें भी साथ-साथ चबाने लगा; मुँह चलाते-चलाते उसने थकावट महसूस की, जैसे दाँत और मुँह से पीड़ा होने लगी हो, और तब उसने चबाना बन्द कर दिया...! किसी बेहद थके हुए मजदूर की नाईं ढीला पड़कर बैठ रहा, तब किसी का हाथ उसके काँधे पर पड़ा। घूमकर वह उस ओर देख भी पाये कि जोर की हँसी ने इसके कौतूहल को दबा दिया; केवल हल्की सी शर्म में लिपटी एक 'ओह' उस्मान के मुँह से वायु की तरह निकल गई।

कल्लन मियाँ इस 'ओह' को सुन और भी खिल पड़े। हँसते-हँसते अपनी छोटी और उसके बाजू की उँगली के मध्य फँसी सिगरेट की राख चुटकी बजा झटकारते लम्बे कश खींचने लगे...।

उस्मान के सूखे हुए ओंठ फिर गीले हुए। उसने कुछ बोलने की चेष्टा की; कि उसकी पीठ पर जोर से धौल जमाते हुए मियाँ कल्लन बोले—बस यूँ ही मुर्दनी सूरत बनाये रहता है.....! झट सामने की प्लेट के ठण्डे कटे कबाब को उठा मुँह में डाल, अपनी आँखों को उस्मान के चेहरे पर स्थिर कर बोले—जो होना था सो हो गया। और, लड़के को इशारे से

एक और प्लेट का आर्डर दे; अपनी बिखरी हुई मूछों को समेटते हुए कहा—आखिर मौत किसे नहीं आती! 'मौत?'—उस्मान ने भर्राई हुई आवाज में बीच ही में दोहराया। जैसे कि मौत उसके ही आगे अपने हाथ फैलाने खड़ी हो। और, उसका सारा शरीर पीला पड़ गया। अपना मुँह नीचे को लटकाकर उसने कुछ कहना चाहा। उसकी आँखों के आगे वे ही सारी बीती बातें खाली प्लेट की नाईं दीखने लगी। अपना कहलाने वाला कभी का अमृतसर...! अपनी माँ...! उठता हुआ धुआँ...! दिल को दहला देने वाली चीखें... नंगी नारियों का गिरोह... और उन सब पर छाया हुआ अन्धकार.....! आगे उसे कुछ और न दिखलाई दे रहा था...। उसकी आँखों में खून उतर आया। उसने दबी, किन्तु तेज धार सी आवाज में कहा—दोस्त, मैं मौत से नहीं उसके तरीके से पागल हो गया हूँ। उसकी मुट्ठियाँ बन्द हो गईं...। कोर तक जली हुई सिगरेट को दूसरी ओर फेंकते कल्लन मियाँ ने अब तक दूसरे प्लेट को भी खाली कर दिया था; आखिरी निवाले के कतरों को गले के नीचे उतारते बड़े इतमीनान के साथ बोले—मैं समझता हूँ। तेरे दिल की आग.....।

उस्मान की चमकती आँखों ने चौंककर पूछा—सो कैसे..? कल्लन मियाँ के हर अंग ने एक अजीब हरकत की; साथ ही उठ खड़े हुए...। और विस्फारित नेत्रों से देखते हुए उस्मान भी सम्हलकर उठ गया.....।

दोनों चल दिये। लड़के की आवाज के साथ उस्मान ने कुछ रेजगारी टेबिल पर छोड़ दी। रास्ते पर उतर आये। कल्लन अजीब नशे की आवाज में बोलने लगा, और उस्मान पालतू कुत्ते की नाईं सुनता, साथ-साथ चलने लगा। उसे ऐसा लग रहा था जैसे ईंट के साथ साथ पत्थर टकरा रहे हों; पत्थरों के साथ लोहा टकरा रहा हो, और यह सब मिलकर एक भयानक आवाज पैदा कर रहे हों।

कल्लन ने शरारती हँसी-हँसते हुए कहा—तेरी आग 'घी' चाहती है ना.....?

उस्मान की आँखों ने, हाथ की उभरी हुई नसों ने, शरीर के सम्पूर्ण स्नायुओं ने एक साथ ऐंठ कर कहा—हाँ.....हाँ.....?

उस मुख्य रास्ते पर कल्लन ने उस्मान की चमकती हुई आँखों के समीप मुँह ले जाकर धीरे किन्तु गम्भीर आवाज से कहा—'सरदार की लड़की है...!' और, रास्ते के चारों ओर घूमकर देखने लगा।

उस्मान की तनी हुई नसें कुछ और भी तनकर कस गईं, वह रास्ते की लम्बाई को दूर तक नजर फैला, ऊबकर पूछ बैठा,—अब और कितना रास्ता बाकी है...?

* * *

रास्ते खामोश थे, रोशनी सिसक रही थी। कल्लन के होश नशे की मुट्ठी में बन्द थे। उस्मान का दिल-दिमाग रास्ते के हर पग को कोस रहे थे, बेचैनी उसकी चाल से, उसकी आँखों से झलक रही थी। बार-बार वह कुछ मियाँ से पूछना चाहता था, लेकिन मियाँ उसके मुँह पर हाथ रख दुत्कार देते, 'हिश' कहकर।

एक उजड़े बीरान खण्डहर के सामने पहुँचकर दोनों रुक गये, उस्मान ने यूँ साँस ली जैसे लम्बी थकावट के बाद किसी ने उसे एक गिलास ठण्डा पानी पिला दिया हो। भूखी आँखों से वह यहाँ-वहाँ टटोलने लगा। किनारे दो-एक कुत्ते दुम दबाये चले जा रहे थे। उसने मुँह बना लिया...।

कल्लन मियाँ ने हल्की आवाज दी। एक चमगीदड़ फड़फड़ाकर उठा, साथ ही उसके एक आदमी बाहर निकला। अँधेरे में इस आदमी की सूरत एक काले धब्बे जैसी दिखाई दे रही थी। जरा आगे बढ़ फुसफुसाकर कल्लन ने उससे कुछ कहा, और फिर लौटकर उसमान की पीठ ठोंकते हुए बोला 'जा'।

उस अँधेरे में उस्मान के कदम लड़खड़ाये। उसने दुबारा मियाँ को देखा हँसकर उसने जाने का इशारा कर दिया, उस्मान धीरे-धीरे उसके पीछे चलने लगा। यह आदमी हिदायतें देता बड़े मजे से बढ़ा चला जा रहा था, जैसे उसका हमेशा का यही सीधा रास्ता था। लेकिन, उस्मान टकराता सम्हलता इस कोशिश में था कि कहीं वह अँधेर में गुम न जाये! वह उसकी छाया के साथ करीब पहुँच रुक गया...।

दोनों रुक गये; अँधेरा वहाँ अपनी जवानी पर था, उसने कंधे पर हाथ रख उँगली के इशारे से उस ओर बढ़ जाने के लिये कहा। उस दिशा में अपनी आँखें गाड़ उस्मान ने कुछ देखना चाहा, घने अँधेरे के उस पार। लेकिन सहम गया। उस आदमी ने उस्मान की पीठ थपथपाई, और बाहर की ओर चला गया। उस्मान ज्यादह देर चुप न रह सका। उस अँधेरे को देख उसका दिल दहला। लेकिन दिल और दिमाग के अँधरे ने इसे सम्हाल लिया। अपने ओठों को काटता हुआ वह बढ़कर कमरे में दाखिल हो गया। दरवाजे पर कुछ धीमी रोशनी पहुँच रही थी; उसके आगे अँधेरा था!

दरवाजे के आगे रुके-रुके वह कुछ खोजने लगा। उसने महसूस किया—कभी यह बहुत अच्छा कमरा रहा होगा, जो अब भी जल-भुन कर बुरा नहीं लग रहा था। यूँ ही टटोलते-टटोलते वह कदम बढ़ाने लगा। और धक से रह गया। वह अपनी जगह पर रुक गया...।

एक किनारे आदमी की पहुँच से बाहर शमा जल रही थी, जो आधी हो चुकी थी; उसके दाईं बाजू में एक लम्बी चौड़ी टूटी आलमारी थी; जिससे प्रकाश कुछ रुक जाता था। वहीं उस अँधेरे में एक युवती दीवार से सिमटी हुई थी।

उस्मान का हृदय जोर-जोर से धक-धक करने लगा। उसने आँखों की सारी शक्ति वहीं स्थिर कर दी। नारी की भरी-उभरी पिंडलियां, माँसल

जंघाएँ और सँगमरमर सी सफेद पीठ जिस पर उसके खुले-बिखरे काले बाल; उस्मान यूँ कँप गया जैसे कई काले साँपों को गुथा हुआ देख लिया। जरा सम्हलकर धीरे से वह कुछ और बढ़ गया। अब वह नारी मूर्ति छ कदम की दूरी पर रह गई। उस्मान ने अपने कोट की अस्तीनों से मुँह का पसीना पोंछा, कुछ हिम्मत इकट्ठी की। अब वह उस फीके-अँधेर में उसे बड़े भाव से देखने लगा।

उस्मान की धड़कन कुछ शान्त हुई, उसने कुछ बोलना चाहा, और अपनी विशेष मुद्रा में वह यूं खड़ा रहा। जैसे कुछ बोलेगा ही; किन्तु वह क्या बोले, कैसे सम्बोधन करे खुद ही न समझ सका। उसकी ललचाई आँखें उस ओर चमकते हुए नग्न शरीर पर नाचती रहीं। उसकी साँस फिर जोर से चलने लगी। उसकी उत्तेजित धड़कन उस अपने ही कानों में सुनाई दे रही थी, जैसे आगे बढ़ने का आदेश दे रही हो। याद आया कल्लन मियाँ उसे यहाँ कैसे पहुँचा गये हैं। चारों ओर उसने आँखें घुमाकर देखा— सिर्फ खामोशी थी। कुछ दृढ़ता ला उसने अनुभव किया कि मियां बाहर ही तो हैं। वह दो कदम और बढ़ गया। अपनी विशेष मानसिक उत्तेजना के आदेश में उसने दबी, किन्तु कँपती नशीली आवाज में कहा,—'औरत...!' उसकी आवाज उस सन्नाटे में उसके ही कान में गूँजकर रह गई। वह अपने ही में और सिमट गई। उस सिमटने में उसका शरीर कुछ हिला। उस्मान ने उसकी इस हरकत को गौर से देखा। और उसमान उसके यूँ लेटने का अर्थ समझ एक भयानक पैशाचिक-हँसी हँस पड़ा, उस हँसी में उसके हृदय की सारी वासना जैसे चीख उठी थी। इस ललकार से नारी कँप गई। उसने अपना सिर घुमाकर उसमान की ओर कर दिया। उसके सिर घुमाते ही उस्मान की हँसी गायब हो गई; और वह उस ओर घूमकर सम्मुख हुए मुख को देखने लगा; उसकी निरीह बेबस आंखें देख, उसका हृदय कँप सा गया; किन्तु उन लाल-लाल ओठों को देख, केवल 'उफ' निकलकर उसके मुख से रह गया। उस्मान उसे देखता रहा। अब भी उसके हाथ सीने पर से

होते हुए नीचे तक चले गये थे। वह उन दो हाथों की ओर झाँकने लगा। जहाँ तक वह अपना सिर लम्बा कर सकता था, उसने कर दिया। नारी की बेबसी और करुणा, क्रोध में परिणत हो गई। उसके हाथ कुछ और हिले, सारा शरीर काँपा; उस्मान अधिक बारीकी से भेड़िये की तरह देखने लगा। नारी उस बढ़े हुए भूखे मुँह को देख, तिलमिला गई। आवेश में खड़े होकर उसने थू-थू कर उस बढ़े हुए मुख पर थूक दिया। उस्मान चौंक गया, उसके क्रोध में नग्न खड़ी नारी समा गई, और वह भूल गया कि अभी अभी कुछ हुआ है; उस पर थूका गया है...? वह कुछ और बढ़ा; अपने ही नशे में चूर, बड़े मजे में उसने अपना हाथ बढ़ा दिया। उसका हाथ नारी के शरीर से स्पर्श होता हुआ उसके उरोजों पर पहुँच गया। उसके सारे शरीर में रोमांच हो आया। उसकी उत्तेजित आँखों में है केवल माँस पिण्ड ही दिखता रहा, साथ ही उसकी अँगुलियाँ कुछ कसती गईं। आवेश में उसने आँखें खोलीं, फिर बन्द कीं; उसके सारे शरीर का रक्त चौगुनी तेजी से दौड़ने लगा; उसकी पिंडलियों में विचित्र कम्पन हो रही थी?

किन्तु, नारी चुप थी। संज्ञाहीन जैसे माँस का पिण्ड, जिसमें केवल गोश्त ही गोश्त था, निर्विकार दृष्टि से उसे देखती रही। जसे स्वयं; निष्प्राण हो।

अचानक उस्मान ने अपना हाथ खींच लिया; समेटकर उसने धीरे से अपनी आँखें खोलीं; ये उसकी अपनी आँखें थी। खुली आंखो से उसने अपने हाथ को देखा, जैसे वह जल रहा था, उसने उस हाथ को अपनी छाती से लगा लिया, फिर सहमते हुए उस्मान ने नारी को देखा, जो अब उतनी स्पष्ट थी, जितनी कि दिन के प्रकाश में प्रकृति। उस्मान फिर आँखें फाड़ फाड़ उसकी ओर देखने लगा, ये—ये तो मेरी माँ हैं—! उसकी अपनी माँ.....! उसकी अमृतसर वाली माँ.....! खड़ी है, नंगी की गई है, और...फिर यूं कोई उसकी ओर बढ़ रहा है...जिसकी आँखों में नशा है...! जिसके पंजों में ऐंठन है...! उसने''! उसने...!!!

उस्मान पसीने-पसीने हो गया। उसने ऊपर आँखें कीं। उसे लगा यह सब धुआँ है, आग है; वह है और साथ है एक असहाय नारी.....!

झट उसकी आँखों में निश्चय घूम गया। उसने अपना कोट उतारे बिना उसकी ओर आँखें किये फेंक दिया। अब कहीं नारी के मुख का स्थिर भाव बदला। वह कौतूहल से भर गई!

लेकिन, उस्मान गिड़गिड़ने लगा—तू ढँक ले, अपने को ढँक ले...।

जल्दी-जल्दी वह अपनी कमीज भी उतारने लगा, उसकी चिन्धियाँ निकल आईं तब पहली बार नारी बोली, क्यों...? क्यों...? यह 'क्यों' हथौड़े की तरह उसके दिमाग से टकराया।

लेकिन, उस्मान गिड़गिड़ाता ही रहा—ढँक ले, ढँक ले...।

नारी ने पूर्ववत् कठोर स्वर में कहा, इसलिये कि तू मुझे अपमानित करने के लिये जिन्दा रखे?

किन्तु, काँपता हुआ उस्मान चीख उठा,...न...न, नहीं;...तू...तू... इन्सान की माँ...माँ है।

उस्मान का गला रुँध सा गया, वह बार-बार दुहराता रहा—माँ... माँ...माँ...!

हाँफता, पसीने से लथ-पथ वह उसे ऐसे देखने लगा जैसे सदा अपनी माँ को अमृतसर में देखा करता था।

देर तक उसके उच्चारित शब्द की प्रतिध्वनि उस खंडहर में गूँजती रही। क्षीण प्रकाश भी काँपता रहा, और उस काँपते हुए प्रकाश में 'इंसान' ने 'माँ' को देखा।

पैरोल पर

मेह बूँद-बूँद कर झर रहा था। आकाश की नीलिमा को लट्टुओं के प्रकाश ने फीकी स्याही सा धुंधला--धुंधला कर दिया था। सतना स्टार्टर्स के सामने जहाँ लगातार दूकानों की कतारें खड़ी हैं, जिन दूकानों में अधिकतर होटल हैं, और शायद दो–एक सेलून भी; वहाँ मीठी जायकेदार मिठाइयाँ और सिंगल-डबल चाय की सदा व्यवस्था रहती है, परन्तु बीच-बीच सरदारों की जो होटलें हैं, उनके आसपास गर्म मसाले का सोंधापन महकता सा है। वहाँ मिठाइयाँ नहीं मिल सकतीं, चाय का इन्तजाम नहीं हो सकता। हाँ तर शोरबेदार पदार्थों की सदा बहार रहती है। लोग मजे में, फुरसत में इन दूकानों के सामने बैठे खड़े रहते हैं। इनकी वाणी में, स्पष्ट हँसी में एकाएक चिल्लाकर तालियाँ पीटने में, इनकी बेफिक्री की झलक झलमला उठती है। देर तक, रात बीतते-बीतते जब बुढ़ाने लगती है तब इन लोगों का स्वर भी बूढ़ा पड़ने लग जाता है; दूकान के सामने वालों का रास्ता भी खामोश हो चलता है, और बेफिक्र खड़े लोगों को बीच–बीच में दृष्टि घुमाने का अवसर बहुत कम मिलता है, और यह कमी बिलकुल नाहीं में बदलने लग जाती है। चहक-हँसी सभी ऊँघने लगती हैं; और होटलों के आगे रखी कुर्सियाँ अन्दर को जाने लगती हैं। होटलों के बीच-बीच में, कुछ और आकर्षक तीर्थ हैं। यद्यपि यहाँ छाया की व्यवस्था नहीं है, बैठने की जगह नहीं है, किन्तु फिर भी लोग यहाँ खड़े पाये जाते हैं। मुँह चलते रहते हैं और पीक से आसपास की जमीन काली लाल पड़ गई है। ये स्थान

हैं काठ की डब्बानुमा दूकानें। यहां पानों का ढेर और सिगरेटों की डब्बियों की सजावट से दूकानें चमकती रहती हैं। ये ही ऐसी दूकानों के अलंकार हैं। यहाँ आसपास के होटलों की विचित्र सोंधी-सोंधी खुशबू के साथ मसालों की भीनी-भीनी महक दिमाग तर कर दिया करती है। लोगों के चेहरे कहते हैं, ये उन्हें बेहद पसन्द हैं। इसीलिये, पान मुँह में दबाये वे एक किनारे की तरफ खड़े रहते हैं। खास कर एक बिलकुल किनारे की ओर जो काठ की दूकान है, उसका मालिक एक जवान मीठी तबियत वाला युवक है। इसे लोग गणेश कहते हैं। यद्यपि नाम पुराना है और सुनते ही एक बेहद विचित्र शकल का चित्र खिंचता है, किन्तु बात बिलकुल उल्टी है। गणेश युवक है, और हँसमुख है। इसके ओंठ हमेशा पान की सुर्खी से रचे रहते हैं। उकड़ू बैठा झूलता हुआ पान लपेटा करता है।

इसकी दूकान के भीतरी हिस्से में रंगीन कलेन्डर और भड़कीली तस्वीरें लगी रहती हैं, खासकर दो तस्वीरें तो बेहद तेज हैं। असली बनारसी तम्बाखू की तरह नशीली हैं। ये दोनों दो युवतियों की तसवीरें हैं जो ढँकी हैं, लेकिन नहीं ढँकी होती तो अधिक अच्छा होता। दोनों के गोल-गोल चेहरे हैं, बिलकुल बादामी चेहरे। और इन चेहरों में आँखों को इस अन्दाज से जमाया गया है, जैसे ये हर ग्राहक को समझाती हों, हम तुम्हीं को देख रहे हैं। तुम्हारी राह में ही हमारी आँखें बिछी हैं; वे चेहरे और मुस्करा रहे हैं; दोनों चेहरे; बिलकुल बादामी-चमकीले ताजे ताजे चेहरे जो सदा ताजे दिखते जो सदा जवान दिखते हैं; जो हर उदास खोए हुए गमगीन आदमी के चेहरे पर हँसी की झलक फैला देते हैं। ये दो चेहरे पान की दुकान के आज-बाजू लगे हुए हैं। ये किस देश का लिबास है। यह आज तक नहीं बता सका; बहुधा इस पान की दुकान पर चर्चा छिड़ जाती है, और न जानें कितनी देर चर्चा छिड़ी रहती है, उस युवक पान वाले के ओठों पर भी मुस्कराहट फैली रहती है। वह मुस्कराता रहता है, जैसे वह हारे हुए जुआड़ियों की बहस सुन रहा है। उसे

उस समय इतनी खुशी हुआ करती है, जितनी दाँव जीतने के बाद ऐसी बहस को सुनने में जीते हुए जुआड़ी को हुआ करती है। हाँ, बहस में जब कोई कह उठता है, यह चीनी तस्वीर है, तब दूसरा उसी समय कह उठता है—चीनी औरतों की नाक चपटी हुआ करती हैं! तब कोई मिस्र और अरब का नाम लेता है—लेकिन साथ ही हँसी की गूँज नाम लेने वाले को शर्मिन्दा कर देती है; वह फ्रान्सीसी युवती के हवाले में उसकी तुलना करता है, और कानों के इयरिंग उसे वहीं रोक देते! यह सभी जानते थे; और आज भी जानते हैं—वह औरत है, एक बेहद सुन्दर युवती। इसके बाद युवक से पूछा जाता है, अच्छा यार तुम्हीं बतलाओ ना। तब वह युवक केवल मुस्करा देता है; अध पके उभरे-उभरे बँगला पानों को लपेटने लगता है, ऐसे बँगला पान जो सोंधे भुने हुए भुट्टों की तरह स्वादिष्ट होते हैं। और वे दो चेहरे उन तमाम ग्राहकों के लिए पहेली बनी रह जाती है; वे चेहरे किस देश और किस जाति के हो सकते हैं? बस इतना ही जानते हैं कि वे दो चेहरे जवान--सुन्दर युवतियों के चेहरे हैं। वे बेहद आकर्षक हैं। उनमें आदमी के हृदय में उत्सुकता जगाने की ताकत है। लेकिन वे रहस्य बने हुए हैं; सभी आदमियों के लिये। गणेश के लिए रहस्य नहीं है। हैं; गणेश तो कुछ बोलता भी नहीं।

हाँ एक और आदमी है जो गणेश से कभी इन चेहरों की जात या देश नहीं पूछता। वह जानता है--ये सुन्दर हैं और कह भी देता है--कौन जवान औरत सुन्दर नहीं होती? किस देश की जवानी में आकर्षण नहीं होता? इस पान खाता है और किसी न किसी साथी की तलाश में लग जाता है। इसे लोग डाक्टर कहते हैं। आज-कल तो यह मेहमान की नाईं आया करता है; और दो-एक रोज ठहर कर चला जाता है। डाक्टर बड़े खुश तबियत का आदमी है। वह अपने हर भाव को हँसी में व्यक्त कर सकता है। उसकी हर अवसर की हँसी अपना अलग-अलग अर्थ रखती है। उसकी बातों में बड़ा अनोखापन होता है। वह कल ही इलाहाबाद से आया हुआ

है और उसे कल फिर इलाहाबाद जाना है। इन दो कलों के पाट में एक रात है जो भूरी से काली पड़ रही है। उसे इलाहाबाद में भी उतनी ही देर ठहरना है जितना वह जबलपुर में ठहरा है। अपने निजी काम से छुट्टी पाकर उसे कानपुर चले जाना है। आजकल उसका निवास स्थान कानपुर ही है। यद्यपि वह इसी गोंड़वाने की उपज है। उसकी हँसी उसकी चाल, उसकी मजाकों की तेजी, व्यंगों की बेहद चुभती कसक, पग-पग पर कहती चलती है—वह जबलपुरी है। उसका रोम रोम यहाँ की जलवायु में डूबा है। किन्तु, इन दिनों कानपूर में अपने ससुर के बेहिसाब लम्बे-चौड़े कारोबार में वह बहुत उलझा हुआ है। उसकी आँखों में आजकल कारबारी आदमियों की चुस्ती आ गई है! उसके लहजे में एक बोझिल थकावट जम गई है; वह थकावट उसकी हर बात से झरती है, और उसकी महत्वाकाँक्षाओं का भंडाफोड़ किया करती है। वह हर समय बातों के मध्य जब कभी व्यापार की चर्चा चलती होती है, कह दिया करता है, भर्री सी आवाज में—अरे यार व्यापार मन्दा है-गोया कि आजकल उसकी पैसा समेटने की भूख ताजी है; और, वह उसे ताजी बनाए रखने के लिए चिन्तित रहा आता है।

मैं बात कर रहा था डाक्टर से, और साथ ही साथ उसे गौर से देख ही रहा था। लग रहा था मुझे—जिन्दगी कैसे करवट ले लेती है! इन्सान कितना बेचारा बन जाता है! घटनाओं के जाल में फँस रास्ते कैसे मुड़ जाते हैं! यह सब डाक्टर को देखकर और उसकी बातें सुनते सुनते दिमाग में उठ रहा था।

डाक्टर अपनी गति में किस्से के तागों को खींच रहा था, और मैं सुनता चल रहा था, तब ही फीरोज सरदार की दूकान से निकल हमारी ओर बढ़ा। वह काफी लम्बा एक सख्त-चुस्त आदमी है। उनकी चाल में मस्ती है; और आज उसकी आँखों में डोरे भी हैं। रंगीन डोरे; जो उसकी ड्रेस के साथ

उसकी आँखों में पड़ गये हैं। आते ही वह बड़े नाटकीय ढँग से डाक्टर से मिला। उसके कहकहों की गूंज उन तमाम होटलों की दीवारों से टकराई, और होटलों के मैले-मैले कच्ची उम्र के बालक अपने परिचित साथी को देखने लगे।

डाक्टर की हँसी दब गई। उसने भरी नजर से हृष्टपुष्ट काया का निरीक्षण किया। फिर उसने कुछ गम्भीरता के साथ कहा—बस अकेले ही गर्म होकर आ गये?

फीरोज अब भी अपनी भरी आँखों से डाक्टर को देख रहा था; ठहरे हुए तेज स्वर में उसने भी कह दिया; चलो। डाक्टर ने दो-तीन बार लगातार फीरोज के चेहरे को व्यापारियों की नाईं देखा; और उसे जब निश्चय सा हो गया, कि 'चलो' का अर्थ है बढ़ो, तो कुछ दूर रखी तीनों साइकिलें उठा ली गईं; रास्ते की भीड़-भाड़ से बचते हुए; चहल-पहल को पीछे छोड़ते सूने-सूने रास्ते को पार करते उस नीड़ के सामने जा ठहरे, जिसे देखकर खुशी के साथ फीरोज कह उठा; पैगोड़ा.....!

यह कमरा नम्बर पाँच है। कमरे के मध्य में एक टेबिल, इर्दगिर्द तीन कुर्सियाँ, बाजू में गद्देदार एक पलंग, सामने आईना! फीरोज ने जरा झूमकर कहा, क्या चाहिये? डाक्टर 'ड्राई एरिये' से आया था; युग पश्चात् किसी ने उससे यूँ सवाल किया था—इसलिये उत्तर के पूर्व इसके ओंठ बार-बार गीले होने लगे; और उसने बैरे को इस खुशी में बड़ी बेरहमी से आवाज दी। उसकी आवाज कह रही थी—मैं प्यासा हूँ, सदियों से प्यासा हूँ—मुझे कुछ भी पिला दो। और पैगोड़ा की नीली चमकदार दीवारों ने जैसे कहा हो, जी हाँ...। जी हाँ...। जी हाँ ..। आँखें बन्द किये किये फीरोज बोला—तीन रम...! बैरा चला गया; फीरोज मस्ती में तर बहकी हँसी से कमरे को गुँजाता रहा। मैं हैरान था। मैंने कभी उसे इतना खुश और बेपरवाह नहीं देखा था—कभी नहीं। हमेशा उसकी मस्ती पर उलझन

और परेशानी की काली छाया मँड़राती उसके मुख को रूखा बनाये रखती थी...।

बैरा तीन ग्लास ले आया, बादामी सुर्खी लिये तीन ग्लास! जैसे यह गणेश की दूकान की दोनों तस्वीरों का अर्क था। हाँ, वे ही दो तस्वीरें जिसकी असलियत सिवाय डाक्टर के और कोई नहीं जानता था...। तीनों का दिल बाग-बाग हो गया। खुशियों का साज पूरी तेजी से बजने लगा; और आँखों में ऐसी मस्ती छा गई; जैसे तस्वीरें जी उठी हैं; जाग उठी हैं; और अब वह मुट्ठियों के शिकंजे में पिस जाने वाली है। फीरोज के हाथ में ग्लास था; और वह उसी मस्ती के साथ ठहर-ठहरकर हँस रहा था। हँसी का वह ठहराव उसकी जिन्दगी का अन्दाज मुझे दे रहा था।

डाक्टर प्यासा था। वह ग्लास मुँह में लगाए, बिना साँस लिए गले के नीचे उतारे जा रहा था।

बैरा खड़ा था। मैंने बैरे को इशारा किया, लेकिन वह न जाने क्या समझा और चला गया। मैंने उसे रोकना चाहा, लेकिन रोक नहीं सका। गिलास को मुँह में लगाये मुझे लग रहा था, क्या इतनी खुशी इतनी शांति ऐसी चहारदीवारी दे सकती है! बैरा आया, उसके हाथ में बोतल थी, पूरी भरी बोतल, दो सोड़े थे, फीरोज सामने था, बिलकुल पहले उसकी नजर बैरे पर पड़ी। उसने कहा—ठीक..... बिलकुल ठीक.....! शाबाश बैरा..! बैरा इत्मीनान और अदब के साथ बोतल ओपनर और सोडे रख गया! मुझे लगा, मेरे इशारे का इसने कैसा क्या अर्थ लगा लिया! लेकिन मुझे मौन रह जाना पड़ा..! बोतलों को खोलने में डाक्टर ने ज्यादा मदद दी, फिर से ग्लास भरे गये, बोतलें खत्म हुईं। कह कहे लगे। गिलास टकराये और खाली होने लगे! भूने हुए आलू के टुकड़े सामने रखे हुए थे, जो भुनकर भी सफेद थे। बैरा अदब से एक किनारे खड़ा हुआ था। फीरोज ने कहा—जाओ! जब बुलाया जाय तब आना! वह बेचारा चला गया।

डाक्टर भी अब झूम रहा था, और उसे अब बात करने की फुरसत मिली थी! वह भी खुश था। कारबार का कृत्रिम नशा उसके दिमाग से काफूर हो गया, और कुछ इस खुशी से पैगोडा की दीवारों को देखने लगा जैसे वह उसकी ससुराल का चमकदार सेफ हो। और वह बोल उठा, भाई फीरोज मुझे फिर कल कैदखाने की ओर जाना पड़ेगा? लेकिन मैं...डाक्टर आगे नहीं बोल सका...। फीरोज पुलिस विभाग का आदमी है, वह नशे में अवश्य था, किन्तु वह अपने नशे पर काबू रखना जानता था। वह भले ही बहक जाय, लेकिन जल्दी सम्हल जाया करता है। डाक्टर के इस एक वाक्य ने उसके मस्तिष्क पर एक विचित्र सी लहर पैदा कर दी। हँसते हुए, फिर भी मस्त आवाज में उसने कहा, तब क्या पैरोल पर छूटकर आया है?

मुझे बड़ी तेज हँसी आ गई—पैरोल? लेकिन फीरोज और भी तेजी के साथ हँसने लगा। डाक्टर भी उसका साथ दे रहा था।

मैंने सम्हलते हुए कहा, यूँ बहका नहीं करते फीरोज। तनिक शराफत बरतो.....।

शराफत..? फीरोज खामोश हो गया; वह हँस नहीं रहा था—किसी की बाट जोह रहा था। कोई दो ही मिनट बाद बाजू के कमरे से एक तेज आवाज उठी। फीरोज की मुस्कुराती आँखें मुझे देखती रहीं; यद्यपि वह बहुत पी चुका था; उसकी आँखें लाल-लाल हो रही थीं, लेकिन वह सब कुछ समझता था; वह हँसी जो बाजू के कमरे से उठी थी, वह बन्द होने को नहीं आ रही थी; वह ऐसी तेज और तीखी बनती जा रही थी जैसे कोई हँसने वालों की गरदनें दबा रहा हो! वह हँसी अब उठी और चलनी सी लगी; फीरोज ने बैरे को आवाज दी!

बैरा बोला—'साब।'

फीरोज बोला, दरवाजे का पर्दा हटा दो। बैरा पर्दा हटाकर अलग हो गया वह हँसी अब यहीं बढ़ती आ रही थी, वह अब बिलकुल समीप पहुँच चुकी थी; वह अब सामने आ गई थी...।

फीरोज ने कहा, देखो। तीनों सामने देखने लगे...। दो हिन्दुस्थानी; अधेड़, रईस हिन्दुस्थानी और दो हिन्दुस्थानी युवतियाँ, जिनके मुँह में सिगरेट लगी हुई, बाल बिखरे हुए, गालों पर बनावटी सुर्खी, नशे में थकीं, भड़कीले कपड़ों में लिपटी डगमगाती निकल गईं; मैंने कहा—ये दो.....!

डाक्टर बीच ही में बोल उठा, हिश...! औरतें नहीं हैं! ये औरतें हो ही नहीं सकतीं...! ये तो चलती-फिरती बेशर्मी हैं...। लेकिन फीरोज हँस रहा था। हँसते-हँसते कह रहा था, ये कहाँ की शराफत है.....?

मुझे गणेश की दूकान के वे दो सुन्दर चेहरे याद आ रहे थे, जो हर ग्राहक की ओर देखा करते हैं। उनके गाल शेम्पिन की तरह सुर्ख-चमकदार हैं। उनके चेहरों में यौवन का रस है, आकर्षण है, लेकिन... ...और मेरा ही नशा कह उठा—बेशर्मी के पुतले हैं!

बाकी बची हुई डाक्टर समाप्त कर चुका था; उसका नशा भी फीरोज की तरह दुहरा हो गया था। 'बेशर्मी' शब्द सुनकर वह बोला, भाई हम क्या हैं; हम?

फीरोज बीच ही में कह उठा, हम पैरोल पर हैं...। सब हँस पड़े तीनों की मिली-जुली हँसी उतनी ही वैसी ही तेज हो गई, जितनी उन चारों की और सब उठे। हँसी भी उठी। उठकर चलने लगी...। बीच-बीच में डाक्टर कहने लगा, ठीक-ठीक ..हम पैरोल...पर हैं...। आराम करने आए हैं। हँसी फिर बजने लगी; ठीक...हम पैरोल पर हैं...। आराम करने आये हैं, हँसी फिर गूँजने लगी, बाहर पोर्च में पैगोडा का मालिक खड़ा हुआ था। दूर-दूर तक रात काली खौफनाक जेल की तरह भयानक दीख रही थी; हम लोग लड़खड़ाते हुए बढ़ रहे थे, हँसी धीमे-धीमे अब भी चल रही थी, और डाक्टर कहे जा रहा था, हम पैरोल पर हैं, पैरोल पर...।

कुसुम

कुसुम को बूढ़ी मानने में कुछ लोगों को संकोच हो सकता है, किन्तु सभी बेझिझक इसे अधेड़ कह सकते हैं। वैसे कुसुम के मुहल्ले में अब भी उसके एक ऐसी नेहिन है, जो न उसे बूढ़ी और न अधेड़ मानती है। वे हैं मोहल्ले के पीछे वाले मदरसे की हेडमास्टरनी, जिसकी आँखों पर निकल के फ्रेम वाला चश्मा सदा चढ़ा रहता है, जो अपने मदरसे की पढ़ी हुई सारी लड़कियों के नाम और रूप-रंग मुखाग्र रटे हुए पहाड़ों की नाईं सुना सकती हैं। यही हेडमास्टरनी कुसुम के विषय में ऐसी बातें कहती हैं, जैसे अब भी कुसुम उसके मदरसे की विद्यार्थिनी हो। कुसुम जब कभी अपने किसी अधनंगे बालक को बेरों की झुरमुट के तले से खोजती हुई मदरसे की चहार दीवारी के भीतर लगे निही के वृक्षों के नीचे आ पहुँचती, तब चश्मे की बगलों से झाँकती हेडमास्टरनी की आँखें कुछ फैल जातीं और वह बेत हाथ में ले...अरे कुसुम...ओ कुसुमा पुकारती ऐसे बढ़ आती कि जैसे स्वयं कुसुम ही निही के कच्चे दानों को काटकर फेंक रही है। हेडमास्टरनी का स्नेह और उलाहनों से भरा स्वर कुसुम के तपते हृदय पर कुछ ठण्डक पहुँचाता; और वह भोली बच्ची की नाईं चुप रही आती। प्रत्युत्तर में हेडमास्टरनी की मुखाकृति को टुकर-टुकर निहारती। फिर चुपचाप नमस्ते कर वापस चली आती।

कुसुम के मेरू सदृश्य जीवन में ऐसी घटनाएँ भटके हुए बादलों की नाईं पहुँच, उसे पल दो पल के लिये हँसा जाती हैं, अन्यथा खुली हँसी या

भरी हुई मुस्कान, उसके लिये अतीत की निधि बन चुकी है। अब जीवन में जीवित रहने के लिये ईंधन जुटाना ही एकमात्र कार्य रह गया है।

जब कभी टीन की पेटी में सुई-डोरा या सीप के बटन खोजती हुई किसी कोने से अपने हाथों द्वारा काढ़े गये गुलाब और टहनी के चित्र को उठा लेती है, तब उसे देर तक याद ही नहीं आती कि कब उसकी नाजुक चंचल ऊंगलियों ने लाल गुलाब का अक्श लिहाफ पर उतारा था। यही लिहाफ कितनी ही रातें उसके सिरहाने की कमी पूरी करता नेत्रों में अजीब गुलाबी नशे की मादकता भर देता। इसी से लगा उसका चंचल हृदय तब स्वप्नों के पंखों पर तैरता हुआ धुकधुक करता रहता, और कुसुम इसी बेल-बूटेदार लिहाफ को नेत्र बन्द किये हुए अपने अंक में कस सा लेती। किन्तु, अब वही लिहाफ उसकी दृष्टि में एक पुराना तार-तार हुआ अनावश्यक कपड़ा मात्र था। यथार्थ में अब उसके स्वप्न, उसकी उमंगे, उसकी भावनाएँ भी संघर्ष की लपटों में झुलसकर वैसे ही जर्जरित हो चुकी थीं। अब उसे अपने अतीत के स्वप्नों से क्या लेना-देना था। वह उस कढ़े हुए लिहाफ को गुड़े-मुड़े कपड़ों में मिला किसी बच्चे को डाँटती-डपटती उठकर जीवन की गहराइयों में खो जाती।

आज तक कठोर जीवन के पथरीले पंथ पर निरन्तर चलती--चलती कुसुम को केवल इतना याद रह गया था कि इस विस्तृत संसार में यदि कुछ है, तो उसका पति, और पूरे चार बच्चे। इन चार बच्चों की आवश्यकताएँ, इनका रुदन, हँसी, मारपीट और उठापटक, इन बच्चों की देखभाल करती कुसुमबाई कुसुम बनी, फिर कर्कश स्वर में कुछ लोग उसे कुसुमा कहने लगे। उसके बच्चों की करतूतें गिना उलाहने मिलने लगे। उसकी गिनती तबही से बड़े-बूढ़ों में होने लगी। इन चार शैतान से बच्चों ने उसकी आयु को दूना और तिगुना बढ़ा दिया। वैसे तो पच्चीस से ज्यादा की न होगी!

* * *

कुसुम का कुल मिलाकर दो कमरों का घर था! इसमें वह थी, उसका पति था, उसकी तीन लड़कियाँ और एक लड़का था। लड़के का नाम टुन्नू था। टुन्नू ने एक कुत्ते का पिल्ला भी पाल रखा था। वह भी इन्हीं के साथ रहता था। लड़कियों ने एक टें··· टें··· करने वाला तोता और एक बिल्ली का बच्चा पाल रखा था। यही ग्रहस्थी का सारा सामान था! लड़कियों के मिट्टी के खिलौने थे; रंगीन कपड़ों की कतरनें थीं और गिप्पियों के ढेर थे। टुन्नू ने कमरे के एक कोने में अपना कब्जा जमा रखा था; उसका गिल्ली डण्डा, मन्जे का काँच पतंग-डोर, बहुत कुछ वहाँ भरा हुआ था। चीजें यथावत् थीं। किसी को इस संबन्ध में कोई शिकायत नहीं रह गई थी। केवल ये चीजें ही इन कमरों में हों सो बात नहीं; इनके साथ-साथ चार शैतानों की गलाफाड़ चीखें, दमघोट हँसी और बेहिसाब गालियाँ भी थीं। टुन्नू जब तीन मूतरे पकड़कर दोनों हाथों से तीन घोड़ों वाली बग्घी चलाने का स्वाँग करता तब समिश्रित स्वरों का सरगम ऊपर की छत को चटका देने के लिये धक्के लगाना आरम्भ कर देता। बेचारी कुसुम के हाथ अपना कारोबार बन्द कर देते। और वह वहीं से झल्लाते स्वर में डाँटने डपटने लगती। कुसुम कमरे के भीतर पहुँच भी न पाती कि टुन्नू एक ही छलाँग में दरवाजे को पार कर मैदान में लंगड़ी··· लंगड़ी···ठप्प···करता नजर आता।

कुसुम का गुस्से में तमतमाया मुख, काँपते हुए ओंठ, लड़खड़ाता सा गालियों से भरा स्वर, फूली हुई साँस, पेन्ट सम्हालते भागते टुन्नू को देख मुस्कराहट की तरलता में तर हो जाती। कुसुम शिकायत करती लड़कियों के मध्य घिरी-उन्हें सहलाती हुई मन की प्रसन्नता को भीतर ही भीतर दबाती बाहर व्यक्त न होने देने की चेष्टा में लग जाती। धीरे-धीरे लौटकर दुबारा अध छोड़े काम में लग जाती।

कुसुम के जीवन का अब यही क्रम बन गया था। इसके बाहर के संसार में उसे झाँकने तक का समय नहीं था। माह के प्रथम सप्ताह में किसी एक निश्चित दिन उसका पति तीस दिन की मशक्कत के बदले में प्राप्त नब्बे सिक्के उसके दोनों हाथों में भर देता। वह कुसुम की उस पल कोहनूरी मुस्कराहट की रश्मि से चौंका सा विजय गर्वित उल्लास लिये अगले इस दिन की घरेलू चिन्ताओं से छुट्टी पा जाता। वह अगले इसी दिन के दिन के स्वप्न में खो जाता कि उसे पुनः नब्बे सिक्के प्राप्त हों और वह उस बहुमूल्य मुस्कराहट की एक झलक प्राप्त कर तीस दिन के बोझीले जीवन की पीड़ा से पल भर के लिये मुक्ति प्राप्त कर सके।

कुसुम मुँह मुस्कराहट पर फैला कर इन सिक्कों को मुट्ठी में फिर आँचल में भर तो लेती है, किन्तु साथ-साथ तीस दिन की आवश्यकताओं को वह इन सिक्कों के वजन से तौलती तब उसे अपनी आवश्यकताओं को इन चमकदार सिक्कों की नाईं हृदय से सिमटाये रखने के सिवा और कुछ नहीं सूझता है। ऊपरसे मुस्कराती हुई वह स्वयँ को समझाने लगती है, कि टुन्नू इस माह भी पैन्ट पर पेबन्द लगाकर काम चला सकेगा; घन्टी की फ्राक अभी पिछले दो माह पहले ही बनी थी; और उसका काम तो चल ही रहा है बस वह जीवन को बनाये रखने की चीजों की ही आवश्यकता समझती, और उसी के हिसाब–किताब में लग जाती।

इस हिसाब-किताब के मध्य जब उसकी अपनी नई साड़ी की लालसा उसे बार बार तँग करने लगती; और उसकी आवश्यकताओं का हिसाब स्पष्ट ना···ना···में उत्तर देता जाता तब उसके भीतर की कठोर नारी कड़े स्वर बोल उठती; उसे क्या चाहिये ? वह है; उसके माथे पर सेन्दुर है। यही सब कुछ है। पूरे चार हँसते-खेलते बच्चे हैं। इन सब पर नब्बे चमकदार सिक्के हैं, जो उसे हर माह प्राप्त हो जाते हैं! वह इतनी स्वार्थी क्यों है ? उसका मन घायल सा समुद्र की नाईं इन प्रश्नों से शान्त हो जाता।

हाँ सभी भर पेट खा लेते हैं; तन भी ढाँक लेते हैं, और वह अपने आसपास चारों पहर सिन्दूरी आवाजों के मध्य खोयी रहती है।

और बेचारी कुसुम मन की पीड़ा को साँत्वना के मलहम से दबाकर चारों बच्चों को नानी की कहानियाँ सुनाती, नींद की चादर से तन-मन ढाँक लेती।

* * *

आज कुसुम ने प्रभात के साथ बच्चों को नहलाना-धोना आरम्भ कर दिया। आज पड़ोस के लालाजी के घर उनकी लड़की के हाथों पर मेंहदी रचने वाली थी। अपनी समझ में कुसुम ने चारों बच्चों को साफ-सुथरे कपड़े पहनाये, पति को काम पर विदा किया, घर पर कुण्डी चढ़ाकर शहनाई की परिधि में जा पहुँची।

अद्‌भुत् चहल पहल थी, घन्टे बीतते चले, रस्में समाप्त हो चलीं पँगतों की व्यवस्था आरम्भ हो गई।

कुसुम ने रास्ते भर चारों को और विशेषकर टुन्नू को बहुत समझाया, लड़ने-भिड़ने से मना किया और वहाँ पहुँचने के पश्चात् स्वयँ तो औरतों के झुण्ड में जा मिली और बच्चों को दूसरे बच्चों के साथ कर गई। कुसुम अपने ही स्थान से इन पर दृष्टि रखे रही। एक बार टुन्नू ने एक लड़के के हाथ से झपट्टा मारकर रंगीन कागज छीन लिया था, किन्तु किसी ने बीच-बिचाव कर दिया और हाथापाई की स्थिति अपशब्दों में बदलकर रह गई।

तभी बच्चों को पहले पँगतों में बैठाया जाने लगा। मोहल्ले की औरतें व्यवस्था में लग गईं। कुसुम ने अपने चारों बच्चों को बुलाकर एक साथ बैठाया। उसने टुन्नू के हाथ में चिंउटी सी ली। टुन्नू का स्वर हारमोनियम के रीड की नाईं निकल पड़ा। कुसुम का चेहरा शर्म से लाल

हो गया। कई नेत्र स्थिर हो गये। उनसे बचने के लिये झट कुसुम ने बढ़कर पूरियों से भरा थाल उठा लिया; और अन्य पड़ोसनों के साथ बच्चों को परोसने लगी।

गाने का क्रम चलने लगा। बच्चों की चिल्ल-पों...और, इधर आना...ये दो...वो दो...इत्यादि से वातावरण गूँज उठा।

कुसुम परस रही थी। वह टुन्नू को बीच-बीच में देख लेती थी। लड़कियाँ बेचारी सीधी थीं। वह परसने के साथ-साथ अपने और दूसरे बच्चों के खाने का क्रम देखती रही। आज इन बच्चों का खाना, साथ चेहरे में टपकते उल्लास और कण्ठों से फूटते संगीत से खिल उठी। उसके मन की तलहटी में संगीत के जो मधुर स्वर छिपे थे, वे ही आज बच्चों के कण्ठ से फूट रहे थे। कितना मधुर था यह स्वर; हँसते किलारी भरते पूरियाँ मुँह में भरते, शिकायतों के साथ लड्डू तोड़ते; और चिल्ला चिल्लाकर चीजें माँगते।

और कुसुम नित्य ही अपने बच्चों को खिलाया करती थी। आज बच्चों के मध्य में उसे अपने बच्चों के बचपन का चित्र देखने मिला। उनके उमंगों की उड़ान की झलक मिली। उसे लगा अब तक वह घर पर चार बच्चों को नहीं चार सयानों को खिलाती रही है; जो खुलकर खाते समय माँग नहीं सकते, किसी चीज को बुरी कहकर टाल नहीं सकते और न शोर ही मचा सकते थे!

नित्य वह अभावों से घिरी अपनी सीमा के बाहर पग नहीं रखना चाहती थी। उसे मन ही मन लगा; क्या वह आज की नाईं सदा अपने बच्चों को न खिला पायेगी।

तभी नन्हे गोल-गोल सिक्कों ने एक साथ स्वर मिलाकर उत्तर दिया—नहीं...नहीं...।

कुसुम के नेत्र सजल हो गये। उसने अपना मुँह मोड़ते हुए आँचल आँखों पर फेर दिया। शोर करते हुए बालक उठे, झट उसे याद सी आई। बढ़कर चारों को उसने समीप बुला लिया। टुन्नू अब भी लड्डू खा रहा था। छोटी लड़की उससे पूछ रही थी—खूब मीठा है ना''? और कुसुम खुश सी उनको हाथ धुलाने लगी।

चारों बच्चों को साथ ले पड़ोसनों से छुट्टी माँग वह घर की ओर बढ़ी। आज वह उन नये सिक्कों को नये मिट्टी के ढेलों की नाईं व्यर्थ समझ रही थी। जिनमें उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरी करने की क्षमता भी नहीं थी। वह रास्ते पर चल रही थी। उसके साथ-साथ चारों बच्चे चल रहे थे। दिमाग में विचारों का कोलाहल सा उठ रहा था। उन सबको वह दबाये मौन थी, क्योंकि वह केवल कुसुम ही नहीं थी। चार बच्चों की माँ भी थी।

उपकार

अभी रात्रि का आगमन हुआ था, परन्तु अन्धकार पूर्ण रूप से विस्तृत हो चुका था। आकाश में बादल घिरे हुए थे। पानी गिर चुका था।

एक सन्तोष की साँस खींच मैं थोड़ा टहलने को निकल पड़ा। सन्ध्या से ही वर्षा के कारण न बाहर ही निकल सका और न घर पर ही कुछ सूझ रहा था। टहलना जीवन का एक आवश्यक कार्य सा बन जीवन में मिश्रित सा हो गया है। और अब उसे अपने जीवन से विच्छेद करने में एक झिझक-सी लगती है। निकल तो पड़ा, पर सड़कें भींगी हुई थी, और उनके गड्ढों में पानी भरा हुआ था! फिर मोटरों की भरमार ने नाक में दम कर दिया था। जैसे ही निकलतीं, गड्ढों का पानी उछलता, उनसे बचने यदि किनारे जाता तो अन्धकार में कुछ दिखाई न देता। सोचने लगा, किसी ऐसी राह न चला जाय जहाँ नीरवता का साम्राज्य हो। और, मैं चल पड़ा बाजार के हृदय को चीरकर जो राह दक्षिण को निकल गयी थी उसी के बगल की एक छोटी सी राह से जहाँ कहीं-कहीं एक-दो दुकान छोटी लगी थी और फासले पर म्युनिसिपैलिटी की बत्तियाँ।

सोचता, यदि घूमने न आया जाता तो क्या होता? इतने कष्टों को झेलते हुए, अकेले ऐसी वीरानी राह से आखिर क्या रखा है? टहलने से क्यों मोह?

पर, मैं उत्तर ही क्या देता ? यही सोचता हुआ बढ़ा जा रहा था। "बाबूजी।" उस गम्भीर नीरव में केवल इसी धीमे शब्द ने मेरा ध्यान आकर्षित कर लिया, और मैंने आवाज को पहचानते हुए कहा, "क्यों क्या बात है रे रेवा ?"

"बाबू आज आप इस।"

उसके शब्द पूरे हुए भी न थे कि वायु की गति में किसी ने नव-जीवन सा प्रदान किया। उस अँधियारी में शायद उसे दिखायी न देता था। इसी से बेहताशा लगी चक्कर लगाने—सनसन करती हुई मानों लोगों को अपने आने का सन्देश देने और रेवा अपनी बात को अपूर्ण ही छोड़कर मुझसे अपनी कुटिया में रुककर इससे बचने की विनती करने लगा। उसकी विनती पूर्ण होने से पहिले ही बूँदें टपटपाने लगीं और ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब मेघराज अपनी पूर्ण कला का चातुर्य दिखाने वाले ही हैं।

मुझे रुकना ही पड़ा।

रेवा आज से कुछ वर्ष पहले मेरे यहाँ एक नौकर था—केवल नौकर—मनुष्य। इस श्रेणी में होते हुए भी जाने कैसे अपना आत्म-सम्मान और ऐसी ही कुछ बहुमूल्य चीजें अपने चीथड़ों में छिपा रखी थी जिनकी रक्षा के लिये ही वह हमसे अलग हो गया था। फिर भी वह हमारी अवहेलना न कर सका। उसमें इतनी शक्ति ही न थी वह ऐसा समझता था।

आज प्रकृति के इन सहचरों से बचने के लिये इसी रेवा की शरण लेनी पड़ी। विधि का विधान ! पर, इसे वह अपना सौभाग्य समझ रहा था।

मैं कुछ विच्छिप्त-सा हुआ। आज मुझे यह विचारने का अवसर मिला कि नौकरों का हृदय भी क्या इतना विशाल, इतना उदार हो सकता

है। मुझे कभी ऐसा विश्वास ही नहीं था। निकाले हुए अपमानित नौकर से अवहेलना के सिवाय मानिक और कुछ नहीं पा सकता। मेरी यह धारणा निर्मूल निकली। मैं उसका मुँह निहारने लगा।

शायद उसे आभास मिला कि उसका संसार जिसे वह आवश्यकता से अधिक बड़ा समझता था, बहुत छोटा है और यह फटे नेत्रों से घबराया सा एक ही दृष्टि में अपनी सम्पूर्ण कोठरी को देखकर कुछ विचलित सा हुआ। यह उस टिमटिमाते हुए दीपक की ज्योति में मुझे साफ ज्ञात हो गया आखिर उसने कह ही दिया, "बाबू हमारी कोठरी आपके बैठने लायक नहीं है।" और फिर चकराया सा निहारने लगा!

यह मेरी सहन शक्ति के बाहर था। आज मेरा हृदय पिघलकर नेत्रों द्वारा बाहर निकल जाना चाहता था। आज मैं समझ पाया, मनुष्यता; और बहुत कुछ रोकने के पश्चात् भी दो बूँद पानी मेरी आँखों से निकल ही पड़ा। रेवा देख न ले इसलिये मैंने अपना मुँह कोठरी के बाहर निकाला। उस अंधकार और उस अन्धाधुन्ध पानी में उन दो बूँदों का क्या अस्तित्व।

आज मैंने झिझक त्याग देने की कोशिश की और बिना सँकोच एक कोने में बिछे हुए टाट पर मैं बैठ गया। शायद यह उसका बिछौना था। वह जो अभी तक इसी सोच में लीन था, मुझे इस प्रकार आराम से बैठते देखकर अकचका-सा गया। उसके मुँह से शब्द तक न निकला॥ उसने फिर सन्तोष की साँस खींचते हुए मेरी ओर दृष्टि फेरी और इसके पूर्व कि मैं उसकी व्यापकता को समझ सकूँ निर्दय पवन के झोंके ने उस टिमटिमाते हुए दीपक को उलट दिया। उस नीरवता में मैं क्या भाँप सकता था!

रेवा कुछ घबराया सा बोला— "बाबू!"

मैंने सान्त्वना के शब्दों में कहा "कोई बात नहीं।" पर, वह जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगा। उसके अस्फुट शब्दों का अर्थ निकालने में मैं

असमर्थ सा था। शायद वह पवन की निर्दयता पर उसे श्राप दे रहा था और वह बाहर निकलते हुए कह बैठा—"अभी आया बाबू।"

मैं रोकना चाहता था, पर रोक न सका। झाँक कर देखा तो अन्धकार! और, उसमें जाने वह कहाँ विलीन हो चुका था। केवल पैरों की छप छप के शब्द ही सुनाई दे रहे थे और उसकी भी ध्वनि क्षीण होती जा रही थी।

एकाएक बिजली चमकी और उसी क्षण बिला भी गयी। उसी आलोक में मैं देख सका कि एक वृक्ष के नीचे रेवा अपनी टेंट से कुछ निकाल रहा था—शायद अपनी निधि।

मैं फिर अपनी जगह पर बैठ गया। माचिस तो थी ही नहीं, क्योंकि मैं सिगरेट-बिड़ी नहीं पीता था। माचिस की आवश्यकता ही कभी महसूस नहीं होती थी। सोचा कि पीता तो अच्छा होता; आज उस बेचारे को पानी में तो न जाना पड़ता। पर जाने क्यों मुझे इन दोनों से नफरत सी थी।

अकसर मुझे मेरे मित्र अच्छी से अच्छी सिगरेटें और बढ़िया पान ला-लाकर प्रलोभन देते पर मैं उनकी बातों में न आता। जब मित्रों ने मुझ पर प्रलोभनों का कोई असर पड़ता नहीं देखा, तो फिर उन्होंने मुझसे कहना ही छोड़ दिया और मैं भी अपनी जीत पर खुश अपनी ही राह का राहगीर बना रहा!

इतने ही में रेवा भीतर आ गया और लगा माचिस सुलगाने। मैंने कहा नादान! इसकी क्या आवश्यकता थी जो पानी में भागा-भागा गया। क्या मुझे डर लग रहा था अन्धकार में? पर वह चुप रहा और अपने ही प्रयास में लीन था। माचिस भी भींग चुकी थी और वह जल्दी-जल्दी में कई काड़ियाँ बरबाद कर चुका था। मैंने उसके हाथ से माचिस ले ली और रूमाल से पोंछकर काड़ी का जो झटका दिया तो वह जल उठी। शायद उस गरीब

के हाथ से जलना वह गवारा नहीं कर सकती थी। दिया फिर टिमटिमाने लगा—और मैंने क्या देखा कि वह अपनी बंडी से एक पोटरी निकाल रहा है और उसके साथ कुछ बीड़ियाँ जमीन पर गिर पड़ीं। उसने उस कागज की पोटरी को खोल मेरे आगे बढ़ा दिया।

मैं अप्रतिभ सा रह गया। और उसके खुशी से खिले हुए चहरे पर कुछ अज्ञात सी सिकुड़नें पड़ने लगीं। मैंने उन्हें भाप लिया। और वह अपना हाथ खींच ही ले कि इसके पूर्व उस कागज के टुकड़े में रखे हुए पान और उस सिगरेट को मैंने उठा लिया।

टिमटिमाते हुए दीपक की लौ में मैंने देखा वह "पासिंगशो" थी और मैंने शुरू कर दिया उसको पीना।

उसका चेहरा खुशी से खिल उठा, शायद अपनी भेंट की इतनी सरलतापूर्वक अपने पूर्व मालिक के ग्रहण करने की खुशी में।

मैं कैसे उपहास कर सकता था उस भेंट का?

पानी रुक चुका था। मैं चल पड़ा। रेवा आया। अंधकार में मैंने अपनी जेब से एक नोट निकाला, जो शायद दस का था और उसके हाथ में रखते हुए कहा—"ठण्ड में कपड़े सिलवा लेना।" वह सिहर उठा, और जाने कितनी दया और श्रद्धा को उर में दबाये मेरे पैरों पर उसने अपना सिर नवा दिया। कहने लगा, "इतनी दया स्वामी? यही क्या कम था कि आज आपने मेरी कुटिया को पवित्र किया!"

मैं मुस्करा दिया और चल पड़ा। मैं आगे बढ़ता जाता और उसके न जाने कितनी प्रकार की सहानुभूति भरे शब्द मेरे पीछे चले आ रहे थे।

मैं इस घटना में इतना तल्लीन था कि मुझे अपनी ही सुधि नहीं थी और एकाएक जब मुझे कुछ दोस्तों ने पकड़कर झकझोरा तो मैं कुछ

अकबकाया। जाने कितना आश्चर्य प्रकट करते हुए वे पूछने लगे—अरे यह सिगरेट और पान ? क्या माजरा है ? वह भी पासिंगशो ? सड़ी सी ?

जाने कैसे कैसे प्रश्न होने लगे मुझ से। पानी की बौछार तो बन्द हो चुकी थी, अब यह नई बौछार शुरू हुई !

मैं विक्षिप्त सा सुनता रहा, मौन रहा और मैंने एक आखरी कश खींचकर उसे दूर सड़क के किनारे फेंका। वह एक पानी के भरे हुए गड्ढे में गिरी और उसी में बह गई।

मैं बढ़ा। सब चुप थे और मेरा मुँह उत्सुकता से निहार रहे थे।

मैं उनकी उत्सुकता का निवारण किस प्रकार कर सकता था ? फिर भी मेरे मुँह से निकल पड़ा। उपकार !

जीता कौन...?

रजनी कालिमा का आँचल पसारे लेटी हुई थी। नभ में आज तारे भी नहीं झिलमिला रहे थे। आसमान पर बादलों की हलकी हलकी तहें जमी हुई थी; जब कभी झुरमुट में छिपे सियार तनहाई से ऊब कर 'हुआ' ऽऽऽ 'हुआ' ऽऽऽ चीख उठते। फिर प्रत्युत्तर में चारों ओर से यह आवाज उठती; उठकर वातावरण के अणु अणु में समा जाती''! और धीरे धीरे प्रतिध्वनियाँ मन्दी फीकी पड़ती जातीं; नीरवता का साम्राज्य छा जाता''! कालिमा गाढ़ी पड़ती जा रही थी गाँव के टिमटिमाते चिराग दम तोड़ चुके थे; दिन भर के हारे थके किसान बेसुध नींद में खो चुके थे। तब भी उस फूस की झोपड़ी में अब तक अलसाई पवन की मस्ती पर क्रोधित दीपक ठिठुरता–काँपता केवल अपने अस्तित्व का भार ढो रहा था। झोपड़ी का मालिक कोदो पाव को पेट से चिपका, बदन पर फटा कँबल लपेटे दोपहर की बातों को बिचारता बैठा था। बच्चे निशा की गोद में बेसुध थे। पत्नी पति की चिंतित मुद्रा का साथ देती, मुँह बनाए देवर के दोषों को धीरे धीरे बखेर रही थी। तब कोदो गहरे विषाद में डूबी हुई आँखों को अँधकार की ओर फैला गम्भीर ध्वनि में बोला—रात बहुत जा चुकी है...! उतनी ही गम्भीरता अपनी आवाज में ला कड़ी आवाज में पत्नी बोली—तब क्या बिचार है''!

क्या विचारता··! दबी किंतु तीखी आवाज में कोदों ने कहा; कहेंगे गाँव वाले, छोटे भाई से उलझ गया..! और चुप हो ओंठ चाबने लगा।

किंतु उत्तर समाप्त होते ही पत्नी का देर से रुका सम्हला संयम टूट पड़ा; सारी बनावटी गंभीरता गायब हो गई, हाथ मटकाते हुए भारी बेहूदी आवाज में बोली; हाँ हाँ वे तो कहेंगे ही··जिसने लोक लाज छोड़ चार आदमियों में तुम्हारा अपमान किया, जग हँसाई हुई, बिरादरी मे नाक कटी, उसका साथ तो देंगे··! फिर पल भर रुक, भरी हुई, साँस को छोड़ते हुए उसने फुफकारा, देखो जी इस तरह डील देकर हम अपनी जड़ नहीं कटवाएंगे··हमें भी भगवान ने बहुत दिया है। चार साल के मुलाहजे में ही कितना नुकसान हो गया··! हाँ छोटा है, दूध तो नहीं पीता; एक लड़के का बाप है, तीन बोतलें एक साथ गटगटा जाता है··। जब उसे तुम्हारी चिंता नहीं, लाज नहीं, तब हम कहाँ तक चुप बैठेंगे··! कल ही तकाजा कर आवो, और वह अपने एक लड़के को करवट लेते, रोते देख चुप हो गई, जोर-जोर से उसकी पीठ थपथपाने लगी, थपथपाते, लम्बी साँसें लेते वह पति के भावों को उस मटमैली रोशनी में लखने लगी··!

कोदों के विवेक पर व्यँग की कसक भरपूर लगी। पत्नी के उलाहने ने मातृस्नेह पर विजय पाई, अतीत की मधुस्मृतियाँ लिप गईं, और प्रतिहिंसा का दावानल भड़क उठा। पत्नी चुप्पी साध चुकी थी; किन्तु उसकी जहरीली बातें कोदों के मस्तिष्क पर घनी रात की तरह छा गई थीं। उस घटाटोप में कुटकी की हर छोटी हरकत के पीछे, उसे धूर्तता दिख रही थी, और उस की आंखों में रक्त के पतले डोरे उतर आए थे; उसे वे दिन भी याद आए सही, जब वह भी अपने बालक की आयु का था, और कुटकी ? पर उसने अनुभव किया, यह सब सदियों की बातें हैं, जो केवल स्वप्नों के आकार में परिणित हो चुके हैं...। केवल पत्नी की कही गई बातों में यथार्थता का अनुभव करता हुआ, प्रतिशोध की भावना में डूबा, उस फटे हुए कंबल को ऊपर तक खींच निद्रा की गोद में डूब गया।

कलह का नश्तर अन्तर तक चुभा जान, अपने पति की मुखाकृति से संतोषजनक उत्तर पा पत्नी मन के आनंद को दबाए स्वप्न लोक में पहुँच गई !

पौ फटी। सारा गाँव सुन्दरता के सागर में डुबकी लगा, जगमग करने लगा। बचपन का माधुर्य हर पत्ते से चूने लगा। सदियों का पुराना गाँव ऐसा नया-नया दीखने लगा, जैसे बस अभी-अभी इसका निर्माण हुआ है। किन्तु, कोदों ऐसी मधुर वेला में, रात्रि की उदासी में डूबा काँधे पर हल रखे ऐसे चला जा रहा था जैसे धीरे-धीरे वह बहुधा साँझ को दिन भर परिश्रम करने के पश्चात लौटा करता। उसके मस्तिष्क में संघर्ष की खींचातानी चल रही थी, और वह अपने भाई के हर कृत्य को केवल एक ही रंग के रँगे चश्मे से देख रहा था। उसके मुख की मलीनता पर क्रूरता के चिह्न अंकित होने लगे थे। बार-बार वह चलते-चलते रुक जाया करता था, कभी ठिठक जाता था। चलते-चलते बेसुधपन में जब ठोकर खा जाता तब उस पत्थर को वह यूँ घूरता जैसे उसका भाई ही रास्ते में रख गया है।

द्वेष के इतने तीव्र नशे में मदहोश कोदों जब अपने खेत की हद में पहुँचा, तब अचानक उसके कदम ठिठक गए, जैसे उसने सामने फन उठाए काले नाग को देख लिया। बिना बिचारे समझ गया कि वे किसके बैल हैं। देर से थकी गंभीर भावना फूट पड़ी। क्रूर हँसी वह हँसा। और अपने दाँतों को किटकिटाकर उसने कहा—कुटकी ! कुटिल कहीं का...! इसमें भी उसे भाई की चाल ही दिखी। रात का नश्तर उसके दिमाग को अपने वश में किए हुए था। वह चीख उठा, अभी बेंड़े आता हूँ, नदिया पार कर काँजी हाऊस में। लेने के देने पड़ जायेंगे। मेरे साथ चालाकी ! उसे लगा, हाँ कितना ठीक कहा पत्नी ने ! एक ओर मेंड पर हल को फेंककर उन मूक प्राणियों को हाँकता, बेरहमी से लट्ठ जमाता, सुबह-सुबह ही हें...हें करता जल्दी-जल्दी काँजी हाउस की ओर चल पड़ा।

धीरे-धीरे सूर्य की कोमलता भी कठोरता में परिणत होने लगी।

धीरे-धीरे वह चुभने लगी; और उसी चुभती गर्मी में हारा-थका कुटकी अपने बैलों की जाने कहाँ-कहाँ खोज करता, गाँव की बाहरी सड़क पर पीपल के नीचे लट्ठ को लंबा कर बैठ गया। उसने हर गाँव वाले से अपने बैलों का पता पूछा, लेकिन कहीं से उसे कोई उचित उत्तर न मिल सका। उसने सोचा कि वह जरा सुस्ताकर काँजी हाऊस ही हो आएगा! बैठे-बैठे वह पसीने की धार को सुखाने लगा।

कोदों इस तपिश में झूमता, गुनगुनाता उसी रास्ते पर बढ़ा चला आ रहा था, उसके लिए जैसे अब सबेरा हुआ था, क्योंकि इतनी देर के पश्चात वह ताजा, प्रसन्न लग रहा था।

बढ़ता कोदों सहसा कुटकी को रास्ते में बैठा देख ठिठक गया। उसे लगा—कल का छोकरा मेरी राह रोके बैठा है! उसके भीतर का भूत इस ललकार को पाकर फिर जागकर तन गया। उसने अपने डंडे को सम्हाल लिया, और इतना चौकन्ना होकर चलने लगा कि जैसे उसके आगे कोई विषैला जंतु बैठा हुआ है। कुछ फासले ही से उसने दूसरी ओर बैठे कुटकी को ललकारा—और चरा ले मेरे खेत में बैल...!

हारा-थका कुटकी चौंककर सम्हल गया। उसने स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी। उसे लगा, तो अब की मेरी मेहनत का कारण है, मेरा अपना भाई...! गुस्से से उसका चेहरा तमतमा गया। यह असहनीय अन्याय उसे अत्यधिक चुभने लगा, वह गुस्से में बोला—तब बेंड़ आया काँजी हाउस में...!

कोदों ने उसी तीखी आवाज में उत्तर दिया—हाँ अब पता चलेगा, नदिया पार वाले में...।

व्यंग का तीर क्रोध की मुद्रा पर जा लगा। सारा शरीर कँप गया। मुख की लगाम हट गई, और कुटकी के शब्दों में तूफान की तेजी भर गई। काँपते हुए स्वर में वह बोला—तेरी जायदाद चर गये थे...! मुझ से वसूल करता; जानवरों....पर क्या गुस्सा...! और वह फिर कँपने लगा।

कोदों ने उत्तर किया—यह साहूकारी कब से शुरू कर दी ?

कुटकी के मुख पर की लगाम तो हट ही चुकी थी, झिझक का भी गला घुट गया। तमतमा कर वह बोला—भैया, भाभी की बातों पर उछल कर...। पर बीच ही में कोदों ने बढ़ मुँह पर जोर का थप्पड़ जड़ दिया।

अब क्या था, हाथ के लट्ठ सम्हल ही चुके थे, फिर गांव के पट्ठे जाने कबसे दिलों में द्वेष के गुबार भरे, लिहाज और शर्म से हाथों को रोके हुए थे। आज निर्जन में, आमने-सामने व्यंग के बाणों से आहत हो, कभी स्नेह से गले मिलने वाले भाई, खून की प्यासी लकड़ियों को खड़का आपस में भिड़ गए। खट..खटा खट...आह...ओह...से शांत वातावरण झनझनाने लगा। तीखी धूप इन दो भाइयों का तमाशा देखती शिथल सी, डर से या भय से कंपती स्याह पड़ने लगी।

अचानक भरपूर प्रहार से कुटकी को भूमि पर कटे हुए वृक्ष की तरह बिछा देख, कोदों का दानव कँप गया। उसने एक बार अपने शरीर पर खून के चिट्टों को देखा; फिर टटोलकर उसने अपने सिर के घाव को अनुभव किया। तब कुटकी को सामने निर्जीव, खून में लथ-पथ देख वह सिहर उठा। उस मटमैली साँझ में लट्ठ हाथ में ले एक बार चारों ओर देख भागा...भागा...किंतु कुटकी बेसुध, संज्ञा हीन पड़ा रहा, न हिला न डुला, रक्त निरंतर बहता रहा...!

* * *

दूसरे दिन सुबह तक सारे गाँव ही में क्या, आसपास भी यह समाचार प्रकाश की नाईं फैल गया। अद्भुत बातों से वातावरण भर गया। कुटकी की चेतना न लौटी, न लौटी, और कोदों को हथकड़ी पहनाकर कानून की ओर सिपाही ले चले! और उधर धूप तीखी पड़ती गई।

"एक नारा"

उस दिन ठण्ड कुछ अधिक पड़ रही थी। बूढ़े चाचा ने नादिरा से कहा, कि कुछ आग जलाकर रख ले बेटी, कामकाज से छुट्टी पाकर कुछ समय के लिये उसके आगे बैठा तो जा सकेगा। आकाश स्वच्छ था पर तारों का दूर-दूर तक कहीं पता नहीं था। जाने किस कोने से फीकी-फीकी चाँदनी बुझते चिराग की लौ की तरह फैल रही थी। ऊपर की खिड़की की चटखनी चढ़ाते हुऐ करीमखाँ ने कहा; अल्लाह--अल्लाह करते दिन तो कटा, लेकिन अब रात ? और अपने दुशाले के भीतर गोल-मोल होता खांसने लगा। नदिरा ने अपने हाथों में लदे हुऐ बर्तनों को नीचे रखते हुऐ कहा—हाँ अब्बा रात क्या अल्लाह चाहेगा तो दिन की तरह जिन्दगी कट जायेगी। और वह उन बर्तनों को धीरे-धीरे सम्हाल कर रखने लगी।

करीमखाँ ने खाँसी को रोकने की चेष्टा करते हुए चिराग की रोशनी में नादिरा के सुर्ख तपते हुऐ चहरे को देखा। उसकी बूढ़ी आँखों में कुछ बचपन का सारल्य उतर आया। अपनी सफेद रेशमी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए वह बोलने की अपेक्षा खामोश नादिरा की गम्भीरता को देखता रहा। नादिरा अपने काम से निपटकर दुपट्टे को ठीक कर रही थी। उसके मुख पर कुछ तनाव आ गया था; वह अभी रखे हुए तवनों की ओर देखती; किसी, अभी-अभी भूल गये काम को पुनः याद सी करने की चेष्टा कर रही थी। करीमखां ने देर से एकटक देखते हुए दुलार भरे शब्दों में कहा—बेटी थोड़ा

सा पानी गरम कर ले, अब ठण्डा पानी तो गले से उतरता नहीं...। हाँ हाँ...अच्छा कहकर वह एक झटके के साथ घूम गई; मुख पर पूर्णिमा की चाँदनी खिल गई। उसे यह तो करना ही था, साथ ही इसके दो काम और करने थे जिनके बारे में वह भूल सी गई थी। वह फर··फर··उस कमरे के बाहर हो गई, करीमखाँ मुस्काता रहा। उसने अनुभव किया—अच्छा हुआ जो हरदेव चला आया था, वर्ना यह लड़की डर ही से आधी हो चुकी थी। और हमलों के किस्से कहानियों ने उसे उसकी जिन्दगी को बिलकुल स्याह रात की तरह बना दिया था। बस दिन रात उसके लिए एक ही काम बच रहा था, अल्लाह की दरगाह में हाथ ऊपर किये रहना। बूढ़े करीमखाँ ने एक बर्र जोर से खँखारा और कफ एक कोने में थूकते हुए लेट रहा। उसे नादिरा का कल वाला सहमा चेहरा दिखलाई दिया। उसकी आँखें उदास पड़ गईं। दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उसने हरदेव की फिर याद की। हाँ हरदेव ही तो अख्तर की खबर लेकर आया है। "अपनी टुकड़ी के साथ वह मजे में लड़ रहा है।"—यह नादिरा के बचपन के साथी हरदेव ने कहा। बूढ़े को यहाँ फिर हँसी आ गई। नादिरा हरदेव से पर्दा करती थी; शर्म से लाल हो जाती थी। लेकिन जब वह अख्तर का संदेश सुनाने लगा, तब वह यूँ बेताबी से उछलकर सामने आ गई कि अख्तर भी उसे इस आदत पर चिढ़ाने के लिये, बेशर्म कह दिया करता था। झट बार-बार उसने भाईजान·· भाईजान कहकर इतने बहुत से सवाल हरदेव से किये कि हरदेव का चेहरा घबराहट में फीका पड़ गया। इतना तो वह लूट-मार के किस्सों को सुनाता-सुनाता भी नहीं दिखता था। बूढ़ा करीम जोर से हँस पड़ा।

अपने काम को खत्म करती हाथ ओढ़नी से पोंछती नादिरा ने कौतूहल भरे हुये शब्दों में प्रश्न किया। अब्बाजान ये बेमौके की हँसी कैसी!

बूढ़े ने मुस्कराहट को पूर्ववत बनाये रख कहा—बस यूँ ही।

नादिरा ने कहा—ना...ना...यूँ ही कैसे...!

बूढ़ा पुनः हँस पड़ा—बस, अच्छा चल-चल तू आराम भी करेगी कि यूँ ही काम ही काम में रात खत्म कर देगी...!

नादिरा ने झट कह दिया, ना...ना...अब्बा; अभी दो एक काम तो बचे ही हैं; और हाँ पानी भी गरम करना है; वज़ू नमाज...। और आगे कुछ और कहती दूसरे कमरे में दाखिल हो गई।

नमाज़ ! बूढ़े को फिर हँसी आ गई। नादिरा तो दूसरे कमरे में जा चुकी थी। वह उस चौखट की ओर देखता सिर हिलाता बैठा हुआ था।

नादिरा एक सफेद कपड़ा हाथ में लिये निकली। करीमखाँ ने दुलार भरे शब्दों में कहा; वाह बूढ़ी; जैसे वगैर तेरी नमाज के अल्लाह-ताला को चैन नहीं...!

नादिरा ने जवाब में केवल मुस्करा भर दिया। हाथ के सामान को धीरे से भूमि के एक हिस्से में रखती दूसरे कामों में भिड़ गई।

इधर नादिरा मौन काम में लग गई। बूढ़े को एकान्त चुभने लगा। उसने अपने कान दीवार से सटा दिये। बाहर शांति के मध्य कुछ खोजने में भिड़े थे। दूर कहीं नाले के समीप चौधरी का बौखलाया हुआ कुत्ता जोर-जोर से हवा में भौंक रहा था। उसकी पथरीली बौखलाहट हवा के साथ दूर-दूर तक फैल रही थी। करीमखाँ कोहनियों के बल दाढ़ी सहलाता उस आवाज के पीछे कुछ और सुनने की चेष्टा करने लगा। लेकिन, कुछ आहट थी ही नहीं। हाँ थी तो सिर्फ चौधरी के कुत्ते की बौखलाहट। वह भी पिछले हमले से किसी लुटेरे की बन्दूक से घायल हो गया था। उसकी दाँई टाँग के पुट्ठे पर एक छर्रा लग गया था। बस तबसे वह अचानक भौं-भौं करने लगा था। करीमखाँ का पका हुआ चेहरा गम्भीर हो गया। वह कोहनियों को ढीली कर लेट गया। यद्यपि तीन रात से कोई विशेष बात नहीं हुई थी, किन्तु चौधरी के कुत्ते की बौखलाहट करीमखाँ को बहुत चुभती थी। उसने सुबह ही हरदेव के मुँह से सुन रक्खा था कि हिन्दी फौजों ने मजबूत नाका बाँधा है। इसलिये हमला अगर

हुआ भी तो लुक-छिपकर होगा। बड़े पैमाने पर सामने से कभी नहीं होगा। नादिरा यह सब कुछ सुनकर तो दिलेर हो गई थी; करीमखाँ भी निडर हो गया था; लेकिन, यह चौधरी का कुत्ता उसे किसी के काले कारनामों की याद दिला देता था। वह उस बौखलाहट में अपने गाँव के मुसीबत में मरे हुए आदमियों की चीख-चीत्कार की कल्पना कर खामोश-उदास हो जाता था। उसे डर नहीं चुभता था; एक भारी दुख बोझिल पत्थर की नाईं उसके सीने पर चढ़ जाता। वह अपने चारों ओर घने अन्धेरे की कल्पना करता। ऐसा अँधेरा जिसमें सारी दुनियाँ की सूरतें विचित्र कंकालों सी सूरतों में परवर्तित हो उठतीं। वह उदास इन काल्पनिक मित्रों को देख मौन हो रहता।

अपने बचे हुए काम से छुट्टी पाकर नादिरा नमाज़ की तैयारी करने लगी। धीरे से बोली—हुक्का बना दूँ अब्बा...?

ना...ना...सहमकर बूढ़ा सम्हलकर बैठा गया। फिर फीकी हँसी मुँह पर लाकर बोला—मुझे रात भर तो जागना नहीं है...।

नादिरा हँस पड़ी, घुँघरूओं की तरह मृदु-स्वरित आवाज़ में बोली—हाँ अब 'मुसीबत' हमसे दूर जा चुकी है।

बूढ़े करीमखाँ ने भी कहा—हाँ जा तो चुकी है, लेकिन...! आगे का कोई शब्द हलक में अटक कर रह गया।

नादिरा ने झट कह दिया—ना...ना...अब्बा, अब घबराहट की कोई बात नहीं...।

अब्बा की आँखें पुनः हँसी में भीग गईं; उसने बच्चों की तरह पूछा—सो तू कैसे जान गई...?

नादिरा ने वाह कह बड़े जानकारों की नाईं उत्तर दिया—'शब्बो के अब्बा दोपहर को सारा किस्सा सुना रहे थे...। और हाँ...हाँ ..सुबह हरदेव भी तो बतला रहा था।' और वह चुप हो जमीन पर बैठने लगी।

अब्बा हँसी न रोक सके; उनकी हँसी से कमरा भर गया। चौंककर नादिरा अब्बा को देख मुस्करा उठी तब करीमखाँ ने प्रश्न किया--तू रोज-रोज पाँच बार जो बुढ़िया की तरह नमाज पढ़ती है; सो तू खुदा-बन्द से माँगती क्या है...! सच-सच बतलाइयो!

नादिरा कुछ सकुचाई; लेकिन, उसने सधी हुई सादी आवाज में उत्तर दिया—'बस अपने मुल्क की, अपने आदमियों के आबरू की सलामत।'

बूढ़े की आँखें फैल गईं, वाह बेटी वाह—उसने भावना में आकर चिढ़ाने के लिये कहा—जैसे माँगे ही से यह सब मिल जायेगा!

नादिरा ने कुछ गम्भीरता से कहा। खुदा से माँगने ही पर मिलता है; वर्ना लड़कर कोई क्या ले सकता है...! और वह चुप रह गई। बूढ़ा अवाक् रह गया। वह अपनी इस बच्ची को तोतली नादान समझता था। वह जो अब दिन की अन्तिम नमाज की तैयारी कर रही थी। अपनी बीबी की मृत्यु के पश्चात् उसे नादिरा और भी छोटी होती जान पड़ रही थी, जैसे अल्लाह ने उसे एक बोलता-चालता खिलौना दे दिया है। लेकिन उस नन्ही सी जान में अब उन्हें मुल्क की बिरादरी की आबरू का नक्शा दिखाई दे रहा था, जैसे वह अब इकलौती बेटी नहीं बच रही थी। वह नादिरा नहीं थी। कुरान की आयतों की तरह पाक अल्लाह की धरोहर थी, जो इस छोटे से मकान, इस वातावरण में भी कितनी शांति बनाये हुए थी। बूढ़ा करीमखाँ उसे उन्हीं निगाहों से देखने लगा, जैसे बहुधा वह कुरान-शरीफ को देखा करता था। वह देखता ही रहा।

बाहर के खामोशी में बहुत दूर से एक नारा 'अल्लाहो-अकबर' का महीन-महीन उसके तेज कानों से टकराया।

बूढ़ा चौंक गया। उसके कान खड़े हो गये। उसे समझने में देर नहीं लगी। यह किसका नारा था। कहाँ से उठ रहा था। क्यों उठ रहा था। उसने चौंककर नादिरा को देखा। वह मौन; अपने नाजुक-नाजुक हाथ उसी अल्लाह की ओर उठाये हुए थी। जिस अल्लाह का नाम ले लेकर;

चीखें मार-मार कर एक टुकड़ी सारे वातावरण को भयानक बना रही थी...।

बूढ़े करीमखाँ ने अपने कान दीवार से और सटा दिये; "अल्ला हो अकबर" अब कुछ और तेजी से वायु के साथ उठने लगा। 'अल्ला हो अकबर' बूढ़े करीमखाँ के मुँह से भी निकला; वह नादिरा की ओर देख बड़बड़ा उठा, आखिर ये किस अल्लाह के नाम पर इतनी 'खून-खराबी' करने पर उतारू हैं।

झट करीमखाँ उठ बैठा; इसने सम्हालकर रखी हुई बन्दूक निकाल ली; सारा शरीर फड़कने लगा। गाँव के तमाम आदमी जाग गये। चौधरी का बौखल कुत्ता जोर-जोर से भौंकने लगा। गोया अजान दे देकर सोने वालों को जगाने लगा। लुटेरों का गिरोह तो बढ़ रहा था; साथ ही गाँव वाले आवाजें दे देकर एक दूसरे को सतर्क कर रहे थे। फौजी भी इस ओर बढ़ रहे थे; 'इल्लिल्लाह' का नारा जहरीली गैस की नाईं वायु के कण-कण में व्याप्त हो रहा था। बूढ़े करीमखाँ ने चाहा कि वह नादिरा को जगा दे; लेकिन वह सर पर सफेद कपड़ा लपेटे; अपने गोरे-गोरे सफेद गुलाब से नाजुक हाथों को ऊपर उठाये अल्लाह से दरख्वास्त कर रही थी।

बूढ़ा करीमखाँ उसके और दरवाजे के बीच में खड़ा था; तभी किसी की आवाज आई;—करीमखाँ!

बूढ़े ने दीवारों से कहा; मैं चला...। अपनी दुनाली ले; घर के दरवाजे को बाहर से बन्द करता वह उन गाँव वालों में जा मिला।

तेज धाँय-धाँय में वातावरण डूब गया। बाहर से अल्लाह की पुकारें हो रही थीं; दरवाजे के भीतर किसी के नाजुक-नाजुक हाथ अल्लाह से फरियाद कर रहे थे। बाहर गोलियाँ बरस रही थीं।

पुन्ना की दूकान

उस मुहल्ले की अंतिम दूकान थी पुन्ना की। वह मुहल्ले का अंतिम मकान भी था। सामने कोलतार की चिकनी सड़क थी, जिसके दाएँ बाजू में इमली के घने-घने वृक्ष कतार बनाए दूर तक चले गए थे। शाम के बाद ही कोलतार के रंग का निखार पुन्ना की दूकान के आसपास फैलने लगता था; क्योंकि पुन्ना की दूकान के कोई पचास गज आगे बिजली का अंतिम खंभा था, और दूकान अंधेरे के घेरे में आ गई थी। अंधेरी रातों में तो ऐसा लगता, जैसे उस खंभे के आगे जमीन ही नहीं है; काली-काली गहरी खाइयाँ हैं। इसलिए राहगीरों को इससे अवश्य कष्ट होता, लेकिन पुन्ना और उसके पास पड़ोसी इससे अभ्यस्त इस परिवर्तन में कोई विशेष अंतर नहीं पाते थे। विशेष कर पुन्ना बिलकुल निश्चिंत रहा आता। वह अपनी दूकान में एक छोटा सा मीठे तेल का दिया जला लेता, उसका काम बड़ी सरलता से चलता रहता था। इसी समय उसके दो–चार साथी नियमित रूप से पहुँच जाया करते; और गप्पें आरंभ हो जातीं. इस समय पान, तेल, नोन की दूकान किसी चौपाले की शक्ल में बदल जाती, जहाँ साथियों की गप्पें सबके दिल गुदगुदा देती तो बस हँसी बिखर जाती। और पुन्ना की दूकान मुहल्ले की आखिरी दूकान भी थी; उसके आगे कोई मुहल्ला भी नहीं था। दूर-दूर बाईं ओर मैदान और पहाड़ियाँ, जिन पहाड़ियों की खोह में टीलों की ओट लेकर पहाड़ी हवा से बचने के लिए छोटे-छोटे झोपड़े बना लिए गए थे इन झोपड़ों में रात सोया करती थी।

हाँ कभी-कभी सर्द हवा की कड़वाहट से रात की तरह मौन रहने वालों का हृदय हिल उठता था। दूर पहाड़ों पर उन मजदूरों की खाँसी की खों... खों...पुन्ना की दूकान पर पहुँच जाया करती। और पुन्ना का कोई न कोई साथी लापरवाही से कटाक्ष कर दिया करता—'साले बड़ी तेज चिलम खींचते हैं।' फिर बातों का रुख बदल जाता।

पहाड़ियों पर करीब आठ-दस झोपड़े थे, और हर झोपड़े में चार-चार पाँच-पाँच प्राणी वास करते थे। और ये जो आठ-दस झोपड़ों का गिरोह था, वह केवल अकेला नहीं था; यह केवल पुन्ना की दूकान वाली दिशा का गिरोह था, और दूर-दूर सारे कटंगा की पहाड़ियों में ऐसे तीन चार गिरोह थे। ये लोग दिन भर सुरंग लगाते; फिर टूटी हुई चट्टानों को ढोकों और गिट्टियों में बदलते; बस यही सीधा-सादा सा पेशा; जिसमें सामूहिक कुटुम्ब भिड़ा रहता। इस काम में लगे-लगे अब ये बूढ़े हो चले थे; खों...खों... खाँसने लगे थे; और रात की नाईं खामोश बन गए थे। इनका सारा जीवन कटंगा के विस्तृत मैदान और पहाड़ियों पर ही बीता था, ये कभी शिशु थे तब से इनकी चर्या और विद्या अपने ही ढंग की थी। नंगे नन्हें-नन्हें हाथों से गिट्टियों को उठा उठाकर ढेर में इकट्ठा किया करते थे। मैदानों से सूखी-सूखी टहनियाँ इकट्ठी कर झोपड़े के आगे ला रखते या फिर मौसम में झुलसी दोपहरिया में टीली बेरी की झाड़ियों पर गिट्टियों की बारिश किया करते। पिटते, लात; घूँसे, गाली गलौज की झरी सहते, फिर गिट्टियाँ बटोरते, बाद में गिट्टियाँ बनाने लगते; ढोकों पर छेनी चलाते, चिलम खींचते; धुआँ उठाते हुए हजम करते सुरंग लगाने लग जाते; और अपना पूर्व कालीन कार्य अपनी संतानों की विरासत में दे देते। जिन्दगी का यह क्रम सदियों से इन मेहनत कशों के गिरोह में चला-चल रहा था। बस बढ़ने के नाम पर ये एक पहाड़ को मैदान की सतह में लाकर दूसरे पहाड़ की ओर बढ़ जाया करते थे। इस प्रकार मुश्किल से इन पिछले पचास सालों में सौ गज से आगे बढ़ सके थे; क्योंकि पिछले दोनों पहाड़

बड़े कसाले वाले पड़ गए थे; जो जमीन के ऊपर कम, लेकिन जमीन के अंदर बड़ी गहराई तक धँसे हुए थे। जिनका निकालना आवश्यक थाकिंतु जिन्हें निकालने में दुहरी और तेहरी मिहनत लगती थी।

जहाँ इस समय पुन्ना की दूकान है, वहाँ भी इसी किस्म का पहाड़ था और उन दिनों आज के खों.....खों.....; तार-तार खाँसने वाले केवल अपने नन्हें-नन्हें हाथों गिट्टियाँ ढोया करते थे। तबसे ये पुन्ना की दूकान को जानते थे। और वे दूकान में लगे गिट्टी और ढोकों तक को पहचानते हैं। उस समय पुन्ना मालूम नहीं कहाँ और क्या था, लेकिन ये लोग पुन्ना को ऐसे संबोधित करते हैं; जैसे वे वर्षों से उसे देखते आए हैं। यद्यपि पुन्ना युवक है, बिलकुल जवान है; और यह दूकान जो आज ठोस दीवारों की बनी है, उस समय कच्ची मिट्टी की छोटी सी थी और किसी और के जरिये चलाई जाती थी। तब भी ये लोग इस चलाने वाले को सेठ नाम से संबोधित किया करते थे; और अपनी आवश्यकताओं की चीजें खरीद ले जाया करते थे। धीरे-धीरे उनका फासला बढ़ता गया, वे आगे मैदानों और पहाड़ियों की ओर बढ़ते गए; लेकिन साथ ही साथ दूकान की रूप रेखा भी बदलती गई; उसके सेठ बदलते गए और वह पक्की दीवारों वाली दूकान बन गई। इस दूकान का हर सेठ दस बारह साल बाद शहर की ओर बढ़ जाता; अपना कारोबार फैला लेता, और इस दूकान में नया सेठ आ जाता। इसलिए समय के साथ ये पुराने ग्राहक खों...खों... खाँसते-खाँसते बूढ़े हो चले थे, लेकिन दूकान चमकदार बन गई थी। और सेठ भी युवक दिखलाई देते थे। ये सब दूकानदार को सेठ कहा करते और मौके बे मौके पहुँचकर अपनी जरूरत की चीजें ले जाया करते। पुन्ना की दूकान ही इनकी 'गुरंदी' थी। बस कोई जरूरत सामने आई और कोई न कोई सदस्य कोई मैले से कपड़े को हाथ में लिए पहुँचा; ऐ सेठ...। यद्यपि यह छोटी सी तीन गजी दूकान थी, फिर भी उसमें इन लोगों की आवश्यकताओं का ईंधन भरा हुआ था। पुन्ना इनकी आवश्यकताओं से भली भाँति परिचित था;

और भूले से ही वह किसी वस्तु की माँग पर नाहीं करता। हां वस्तु खत्म हो जाने की और बात थी; अन्यथा वह अभाव को खटकने न देता। यह बात वह यहाँ के पुराने सेठ से सीख चुका था; और इसीलिए दूसरे सेठों के आकर्षण इन लोगों को पुन्ना की दूकान से विचलित न कर सके थे।

इस प्रकार अपने इनेगिने ग्राहकों के मध्य पुन्ना मजे की दूकानदारी चलाए जा रहा था। दूकान के सामने जो चिकनी कोलतार की सड़क गई थी वह सीधी-सीधी दूर तक निकल गई थी; आगे काफी दूर निकलकर वह कई हिस्से में बट गई थी; क्योंकि वह संपूर्ण फौजी इलाका था; इसलिए वहाँ मौत का सन्नाटा रहा करता। बहुधा इस रास्ते पर से जाने वालों के कीलदार बूटों की तेज खट...पट...ध्वनि होती। यदि वह स्वर दूकान की ओर बढ़ता सा लगता तो स्वभावतः पुन्ना पान लपेटने लग जाता; क्योंकि इन फौजी आदमियों को बड़ी जल्दी पड़ी रहती, ये आते और जल्दी करो। कहने लग जाते; और पुन्ना जानता था कि तीसरी चीज का नाम भी नहीं जानते हैं; बस सिगरेट या फिर पान। और वे लेते हुए पुनः सरपट खट... पट...करते हुए उस कोलतार की चिकनी सड़क पर चलने लगते।

इसके बाद पुन्ना की दूकान के पीछे एक मोहल्ला भी था; जिसमें प्रधानतः दो-ढाई रुपये वाले दो-दो कमरे के क्वाटर थे। इसमें कारखाने, दफ्तरों में काम करने वाले निम्न मध्यम श्रेणी के वर्ग के लोग प्रधानतः बसे हुए थे। इनकी भी अनेक आवश्यकताएँ इसी दूकान से पूरी होती थीं; वे यह बहुत चाहते थे कि पुन्ना की दूकान को छोड़कर वे किसी बड़ी दूकान से अपनी आवश्यकता की सारी चीजें खरीदा करें; दिन के प्रकाश में बड़ी गहराई और गंभीरता से ये विचार करते, और काम किया करते थे; दिन ढलते-ढलते विचार भी मैले कपड़ों की तरह गंदे हो जाते थे; और इन्हें लाचार उन्हें उतार कर रख देना पड़ता था। अपना काम खत्म करके ये एक ऐसी जगह इकट्ठे होते जहाँ से लौटते-लौटते इनके कदमों में लड़खड़ाहट आ जाती; इनका स्वर लापरवाह बोझिल हो जाता और ये

आड़े-आड़े तिरछे-तिरछे चलते; अपने आसपास के वातावरण को ताड़ी और महुए के रंग में तर किये चलते थे। झूमते-झामते; भींगी काली रात में दूर ही से इनका स्वर इनके आगमन की सूचना दे देता। पुन्ना की दूकान के सामने निश्चित पान चबाते हुए साथी खड़े-खड़े इन्तजार करने लगते; और उनकी चर्चा में झूमते चलने वाला आदमी शामिल हो जाता। बेपरवाह हँसी को एक राह मिल जाती और हँसी की फुआर में रात की मौनता गाती सी लगती। तभी कोई झूमता-झामता आदमी भी पहुँच जाता; हँसी मुस्कराहट में बदल जाती; और सभी उत्सुक मुस्कराती आँखों से अपने ही मुहल्ले के मदहोश आदमी को देखने लगते। यद्यपि यह आदमी मदहोश होता; फिर भी वह पुन्ना की दूकान तक पहुँच जाया करता। पहुँचते ही अजीब ढंग से अभिवादन करता; फिर दो-चार पैसे के सेव,लैया अपने इन्तजार करते हुए बच्चों को खुश करने के लिये खरीदता, उसे शायद तब अपनी बीबी का मुरझाया हुआ चेहरा याद हो आता और वह उसके लिये एक पान लिपटवा लेता। केवल एक पान; और फिर उसकी हँसी स्पष्टतः कह देती कि उसकी बीबी का हृदय पान की तरह खुशी से सुर्ख हो जायगा। वह तो खुद खुश रहता; उस हालत में खोया हुआ; घरेलू परेशानियों से दूर; बस यही खुशी उसे होती; और वह अनापशनाप बकता हुआ—झूमता-झामता चल देता।

पुन्ना इस थोड़ी सी उम्र में इन आदमियों की नाड़ी पहचान चुका था। वह चेहरा देखकर पान के मसाले छोड़ा करता था। गुस्सा उससे कोसों दूर था; वह ग्राहक की हर कड़वी बात को एक स्वादिष्ट मजाक के रूप में देखा करता था। उसे कभी भी गुस्सा नहीं आता था; उसका धैर्य अमावसी रात सा गाढ़ा और गहरा था; वह एक ही साथ बेझिझक दो ग्राहकों के लिये दो विभिन्न सौदे तौल दिया करता था। यदि एक तीन पाव चाँवल माँगता तो उस समय भी उसकी भाव मुद्रा वैसी ही रहती जितनी एक छटाक आलू तौलते वक्त रहा करती थी।

हाँ, एक छटाक आलू तौलने का वह अभ्यस्त हो गया था। उसके पड़ोस की एक लड़की एक छटाक आलू लेने आई; पुन्ना का एक साथी हैरान हो गया, साश्चर्य वह बोला, एक छटाक आलू? उसे विश्वास नहीं हो सका, उसने कहा, जा भूल गई होगी; फिर पूँछ आ...।

पुन्ना नाहीं न कर सका: लेकिन वह लड़की चकराई सी पुनः बोल उठी, अच्छा हाँ पूँछ आती हूँ। और वह चली गई। बातें आरम्भ हो गईं यहाँ-वहाँ की। पुन्ना भी बातें करता रहा, हँसता रहा और इसी बीच उसने एक छटाक भर का आलू तौलकर पान के पटरे पर रख दिया। वह लड़की तब फिर आई, उसने जोर देते हुए कहा, हाँ...हाँ...एक ही छटाक तो मँगाया है...। तीन छेददार पैसे उसने दे दिये और उस आलू को लेकर वह लड़की उस अंधेरे में भाग गई। पूछने वाला देखता रह गया, वह उस लड़की के बाप को जानता था; उसके घर के सदस्यों को जानता था जो कम से कम पाँच हैं; और उसने अभी-अभी वह एक छटाक आलू देखा था...। वह सोच रहा था। तभी एक और काली-काली मैली सी लड़की पहुँची वह एक धोबी की लड़की थी; उसके आते ही पुन्ना बोला—क्यों रे, क्या अब की महीने भर में कपड़े लायेगी? वह लड़की हँस दी और बोली, कल फजर मिलेंगे।

फिर सिर खुजलाते हुए उसने कहा, हाँ दो पैसे की दाल दे दे। पुन्ना ने तराजू उठाते हुए कहा, कल जरूर ले आना। और फिर हँसते हुए बोलने लगा, हाँ बाबू महीना भर होने को आया, लेकिन बाबू तो उस अंजलि भर दाल को देख रहे थे जिसे पुन्ना एक दोने में डालकर उस काली लड़की को थमा रहा था। लड़की ने दुलराते स्वर में कहा, थोड़े चने दे दे। पुन्ना ने उसके हाथ में दो चने दे दिये। सिर्फ दो चने; और स्वतः पुन्ना बोला, क्या करें बाबू? तब तक वह लड़की; हाथ में दोना लिये अंधेरे की डरावनी शक्ल से बचने के प्रयास में गुनगुनाती दौड़ती चली गई।

बाबू के दिमाग में आलू और दाल की तादाद खौल रही थी। पुन्ना अपनी स्वाभाविक गति से अपनी बातें किये जा रहा था; लेकिन बाबू उस आलू का छीला जाना, कटना, छौंकना और उस बर्तन में पानी का भरा जाना भी देख रहे थे। सोच रहे थे बहुत कुछ। तभी उस आलू ले जानेवाली लड़की का बाप पहुँच गया उसकी खखार ने बाबू का ध्यान उस ओर खींचा; वह अपनी अस्तीन से मुँह पोंछता आ रहा था। उसने अपनी जेब से बीड़ी निकाली और पुन्ना की दूकान में प्रकाश देते दिए की ओर झुक पड़ा।

बाबू चुपचाप अपने विचारों में खोए चल दिए। उसने बीड़ी का धुँआ उगलते हुए अपना परिचित प्रश्न किया, सुनाओ जी कोई हाल चाल...।

बाबू अंधेरे के घेरे में पहुँच चुके थे। पुन्ना पुरानी तराजू की खटर... खटर...के साथ समाचार सुनाने लगा; और वह बीड़ी का धुआँ पीता-पीता हाँ...हां करता गया।

यद्यपि बाबू अँधेरे में था, तो भी उसे दूकान की चर्चा स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ रही थी; साथ साथ उसके दिमाग में विचारों का धुआँ और भी गाढ़ा होता जा रहा था; और वह पुन्ना की दूकान से काफी दूर निकल चुका था।

खोये हुऐ लाड़ले

सावन खेत की मेड़ पर बैठा खुरपी से घास छील रहा था। सूखी घास कुछ भूरी सी पड़ गई थी। भूमि से बिलकुल सिमटी केवल एक तह सी लग रही थी। सावन की तिरछी खुरपी के साथ थोड़ी सी धुएं जैसी धूल उड़ती और मुट्ठी भर घास निकल आती। और इस क्रम को चलते घंटे बीत चुके थे। सावन की टाँगे नंगी, सारी देह धूल की गर्द से ढँककर उसे ऐसा बना चुकी थी जैसे वह कोई रमा हुआ जोगी हो। वैसी ही निश्चल एकाग्रता, वही नशा उसके रोम रोम में व्याप्त था। ऊपर सूरज चोटी पर पहुँच चुका था। देह से पसीना; चूती छत की नाईं टप टप जमीन पर टपक रहा था; सावन ने तनिक आँखें ऊपर कर बदन की हड्डियाँ चटखाईं, लेकिन आँखें मिचमिचाकर रह गईं। झपी पलकों को स्थिर रखे अलसाये स्वर में; बोला; घाम बहुत चढ़ गया।

सिर पर से टोकरी उतारती सुखिया बोली हाँ···। एक दृष्टि से उसने धूप के ताप का निरीक्षण किया; मुस्कराती हुई बोली; 'झट कलेवा कर लो···।' सुखिया की चंचल दृष्टि उस विशाल प्रकृति की बेहिसाब दुनिया में मौज से भटकती रही। दूर दूर और आसपास की वस्तुओं को बड़ी अल्हड़ता से देखती और प्रतीक्षा करती रही कि सावन कलेवा कर ले और वह सामान बटोर कर चले। समीप ही बाजू में छिली हुई घास को देख सुखिया की भाव मुद्रा से परिवर्तन का पुट स्पष्टतः झलकने लगा। उसकी

अल्हड़ भावनाओं की डोर किसी ने झटके से खींच दी। वह स्थिर उसी ढेरी को देखती रही। दूर काली काली पहाड़ियों की ओर से हवा के झोंके लहराते आये और निकल गये। निकलते निकलते वे सुखिया के माथे का, गालों और ओठों का स्पर्श करते गये। सुखिया के ओठों पर नमी छा गई, जैसे गदरे नीबू की दो बूंदें किसी ने निचोड़ दीं। भारी सी सांस लेती हुई कुछ कुछ सुरूखाई, कुछ ताने के साथ सुखिया बोली; लो आधी जून लौ आठ गण्डा की घास नईं भई''। बारी बारी से छिली घास और छीलने वाले अपने पति को देखती रही।

खुरपी को, सावन ने सुखिया की ओर देखते हुए भूमि पर पटक दिया। सुखिया सावन को देख रही थी; और सावन लंगोटी सी धोती में हाथ पोछता छिली हुई घास को। माथा उसका तर हो चुका था, और देह से पसीना टप टप टपक रहा था। एकाग्र सुखिया को देखते उसे अतीत का वैभव याद हो आया। उद्विग्न झटके के साथ घूमते हुए वह बोल उठा। चाहे दुनिया भर की घास का ढेर लगा दो; पर अमवावाला महाजन आठ गण्डा पर धेला न चढ़ायेगा। इन शब्दों के निकलने से उसके हृदय के ताप की मात्रा कुछ कम हो गई। वह मेड़ के नीचे उतर आया। अभी भी वह शरीर में चुभते हुए दर्द का अनुभव करता रहा।

सुखिया ने मटमैले कपड़े की पोटरी के साथ पानी से भरा तूँबा निकाल सावन के आगे रख दिया। कुछ पानी के छींटे सावन ने मुँह और माथे पर दिये। जलन और कटुता का पारा नीचे उतर गया। तूमें को मेड़ से टिकाता सावन पालथी मारकर बैठ गया। सुखिया बाजू में बैठ मैले कपड़े की गाँठों को ढीला करने लगी। सावन शीतल दृष्टि से आसपास की प्रकृति का अवलोकन कर रहा था यद्यपि उसके नेत्र पूर्ण रूप में खुले हुए थे, फिर भी वह स्वप्नों के चित्रों में खोया हुआ था। उन खेतों में का धानी रंग काँप रहा था! इन उजड़े हुए मैदानों में वह सुनहरी बालियों का कँपन देख रहा था। ये चित्र उन दिनों के थे जब पहिली बार सुखिया

ऐसी ही भरी दोपहरिया में आयी थी। उन दिनों खेत आज से विधवा नहीं थे, तब खुशी में क्यारियाँ यूँ डोली थीं जैसे आज ही उनकी 'सुहागरात' हो और सावन का रोम रोम रोमांचित हो उठा, उसने अपना हाथ आगे बढ़ाया। सुखिया तुनककर बोली—गाँजा चढ़ा है का''''?

सावन सम्हल गया। वे सुनहले चित्र पंख फैलाकर फुर्र हो गये। दूर दूर तक अपने चारों ओर उसे उजड़े और वीरान खेत दिखलाई दिये। एक टुकड़ा रोटी का उसने ऊपर उठाया; हाथ उठे और उठे ही रह गये। भौंहें सिकोड़कर सावन बोला—अब बिर्रा भी नाहीं बचो''?

'कहाँ से मिल है''?' सुखिया ने घास की ओर इशारा करते हुए कहा; दिन भर माँ आठ गण्डा की घास बटोरत हो...। लेकिन सुखिया बोल न सकी सावन के मुख पर स्थिर भाव ने उसके हृदय में अज्ञात भय पैदा कर दिया। कुछ याद सा करती; 'अरे' कह बाज़ की टोकरी को खींचती बोली; 'नोन तो ये ही मा धरो रहो''।' सुखिया हँस पड़ी किन्तु सावन की गम्भीरता बरसात के कजरारे मेघों को उभाड़ती रही। वह मौन दाँतों तले सूखी रोटी के टुकड़े को चबाता रहा। साथ साथ वह भूमि की तह पर तीव्र दृष्टि स्थिर किये रहा। सुखिया सावन की इस मुद्रा और ऐसी स्थिति से भली भाँति परिचित थी; और जब कभी ऐसी नौबत आती, इसका हृदय भय से भर जाता था। इसका स्वाद वह नई दुलहन बन यहाँ पहुँचने के तीसरे ही दिन से जान गई थी। साँझ की बेला, दादा से तकरार कर सावन कुए के समीप बैठा भूमि के उस हिस्से को देख रहा था जो बिलकुल फसफसा गई थी। तब सुखिया पास पहुँचकर कुछ बोल बैठी थी। तब घूमकर बिना हिचके सावन ने ऐसा झापड़ जमाया कि आज भी उसके ओठों पर भय मिश्रित हँसी छलक जाती है। अभी भी सावन की प्रकृति से वाकिफ वह अपने पति के अन्तर विद्रोह के एक चित्र को स्पष्ट देख रही थी। वह मौन थी। क्योंकि एक भयातुर आशंका चुटकी काट काट कर उसके ओठों को बन्द किये हुए थी।

सावन दो एक टुकड़े और मुँह में छोड़ रुखाई से बोला, दे पानी...। झट हाथ बढ़ाकर सुखिया ने तूँबा बढ़ा दिया। सावन का पेट गड़गड़ाया, उसने थोड़ा सा पानी और गले के नीचे उतारा, लेकिन अंतर की हूक ठण्डी न पड़ सकी। बचाव के लिये, स्वतः को भुलावा देने के हेतु वह बोल उठा; पिछले बार इन्हीं खेतों में ढेरों खण्डी नाज हुआ था।

सिकुड़ी, मौन सुखिया को बोलने का साधन प्राप्त हुआ; हाथों की मिट्टी झाड़ते हुए वह बोली हाँ।

इन्हीं खेतों को सावन भरे नेत्रों से देखता रहा; दबी, सधी आवाज में बोल उठा; पूरे तीन माह लगे रहे। खात फैलाबे मा...? सुखिया सुराख पा चुकी थी; हाथ मटकाकर बोली; बैलन की हड्डी-हड्डी निकल आई रही?

हाँ...हाँ...सावन बरसते हुए बोला—तू, हम और बाबा तो बिलकुल हाथी बन गये थे। और उसने अपनी दृष्टि सुखिया की नोकदार नाक पर गड़ा दी। रोके रोके सुखिया के नेत्रों में हँसी छिटक आई। निर्निमेष सी वह अपलक, मिट्टी में सने अपने सुहाग का मटमैला रंग देखती रही। देखते देखते जैसे आँख में रेत का एक कण पड़ गया। एक बूँद जल भूमि के सीने में मिल गया। उसे लगा; मिट्टी के मध्य में रह, मिट्टी बन जाने पर भी छोटी सी साध किसी सिंहासन की कल्पना बन जाये। क्यों? और उत्तर में झल्लाई वह सारी चीजों को इकट्ठा करती रही। सावन अधलेटा भूमि में हाथ दिये पड़ा रहा। जब सुखिया ने सामान इकट्ठा कर लिया: तब सावन ने बिना उसकी ओर देखे कहा; तू जा...?

सुखिया बिना प्रतिवाद बढ़ गई। जब पायलों के झनन झनन का स्वर धीमा पड़ गया सावन ने उस ओर घूमकर देखा। आगे घास फैली पड़ी थी। वही घास जिसे वह घन्टों की मेहनत के बाद छील पाया था; किन्तु उसे लगा; जैसे यह किसी दो मंजले के आगे के टिकटघर में कूड़ा पड़ा हो। केवल एक प्रश्नवाचक चिन्ह जो सदियों से उसके हृदय में लगा था आज उत्तर की खोज में आकुल हो उठा।

सावन पुनः उन वीरान खेतों की ओर देखने लगा जिसकी मिट्टी हल के द्वारा उलटी जा रही थी। जिस पर अपने समस्त कुटुम्ब सहित कितने दिन कितनी रातें काट चुका था। आँखों में नींद डोला करती; दिन भर की मेहनत से माँस-पेशियाँ ऐंठ जाती, सर्द हवा के झोंकों से दाँत किटकिटा उठते। इन सबके ऊपर आशा जय का एक लेपन चढ़ा देती। सावन तब पुआल के बीच दुबका स्वयँ को देसी गीतों की धुन से बहलाता मुर्गे की बाँग तक जागा करता। इन सबका परिणाम क्या निकला; उसे बिर्रा भी खाने को नसीब न हो सका। वह ऐसे उछल पड़ा जैसे किसी साहेब ने कीलदार बूटों से उसके पाँव दबा दिए। बस सावन उठकर तन गया। वह स्वतः से प्रश्न कर उठा, क्यों ? उसकी विकृत मुद्रा आज अपने ही खेत की मिट्टी से प्रश्न कर उठी, क्यों ? विस्तृत खेतों की मिट्टी ने अपनी मौनता ही में उत्तर दिया कि तुम्हारी मेहनत के बदले में मैं हर फसल पर मनो गल्ला देती हूँ। तुम्हारे झोपड़े में अब भी उसका कुछ हिस्सा है। सावन की दृढ़ मूर्ति पर गहरी गम्भीरता सी झलक उतर आई। उदास से स्वर में अपने ही तईं वह बोला; हाँ है; बीज के दाने तो हैं। तब···। तब क्या ? तब सावन सीधे घर की राह पर बढ़ चला।

एक नशे की स्थिति में वह चल रहा था। बीज के दाने ! वह उसे क्यों कर खा सकता है ? फिर भी दालान में से गुजरता हुआ वह उस कोठरी में जा पहुँचा जहाँ एक कोने में दादा ने इन दानों को छिपा रखा था। पीछे आँगन में दादा नारियल गुड़गुड़ा रहे थे; और इस गुड़गुड़ाहट का स्वर सुनाई पड़ रहा था। किन्तु सावन केवल गेहूँ के दानों को मुट्ठियों में भर लेना चाहता था। कान गेहूँ की सरसराहट सुनने के लिये उद्विग्न थे। वह घड़ों, कनिस्तरों को टटोलता उन दानों को मुट्ठी में भर लेना चाहता था; जिनमें अगली फसल की मादकता भरी थी। सहसा उसके आशा भरे नेत्रों में तरल मुस्कुराहट सी छलक गई। हँसी से मुख दीप्त हो उठा। उस बोरे में उसने अपने दोनों नेत्र अटका दिये। दोनों हाथों में

उन गेहूँ के दानों को भरकर उन्हें ऊपर से नीचे छोड़ना आरम्भ कर दिया। उस सरसराहट में, बादामी रंग की सोंधी-सोंधी खुशबू के मध्य उसने अनुभव किया मानों उसके पेट की आग राख बनती जा रही है।

तभी खँखारते हुए आश्चर्य चकित बाबा नारियल लिये आ पहुँचे और बोल उठे कौन; है ?

पर सावन को किसी की बात सुनकर जवाब देने की फुर्सत ही कहाँ थी। जैसे वह अपने खोये हुए लाड़लों को अँक में भर प्यार कर रहा हो; चूम रहा था; खुश हो रहा था और वे किलक-किलक कर उछल कूँद कर रहे थे।

दादा आश्चर्य मग्न स्थिर थे; बोले; जे का करत है ? किन्तु सावन अपनी ही धारा में उतरता-चढ़ता बहा जा रहा था। उसने अपने उस 'तब' का जैसे उत्तर पा लिया था। अपने लाड़लों को अपने ही समीप रखने का रास्ता पहचान गया था।

वृद्ध दादा अधिक समीप पहुँचकर बोले जे नाज का बीज है''।

और सावन उन्हें पुनः मुट्ठी में भरता हँस पड़ा। उसकी हँसी का स्वर जैसे कह उठा; हाँ हमारे लाड़ले; हमारी मंजिल के पथचारी''!

ये हमारे काम आयेंगे। राजा भूख बर्दाश्त नहीं करेगा''।

भूख की तसवीर

दोपहर की बहस समाप्त हो जाने के पश्चात किशोर एक सोफे में धँसा बैठा ही रहा। उसके मित्र दीपचन्द खन्ना अपने स्वभावानुसार मजेदार चाय की चुस्कियाँ लेते हुए मुहावरेदार भाषा से बोलते रहे, और चले गये। किशोर भी सदा अपनी प्याली को समाप्त करते करते खन्ना साहेब की मुहावरेदार भाषा का कुछ ऐसा आनन्द लिया करता जैसे वे कुरकरे टोस्ट हों। और जब अपना प्याला खसका देता तब वे बातें अपने ही आप खसक जाती। खन्ना साहेब तब किशोर की एक आध नई कृति को ध्यान से देखते, फिर उसे कुछ दूर एक गज के अन्तर पर रख देते, फिर अपनी आँखें दबा लेते और चलते चलते एक आध टिप्पणी कर जाते। जब वे अपने विचार व्यक्त करते तब किशोर उनके शब्दों से अधिक मुख पर खेलने वाली रेखाओं को देखता और याद रखता। दीपचन्द खन्ना को भी इसकी विशेष चिन्ता नहीं रहती थी। वे अच्छा कह उँगलियों में अपना फेल्ट फँसाये चल देते। किन्तु आज ढलती दोपहर के समय जब दीपचन्द आये, तब किशोर अपने ताजे चित्र को समाप्त कर संतोष मिश्रित विचार में मग्न ऐसे सोफे पर बैठा हुआ था कि उसे किसी से बातें करनी हैं। खन्ना साहेब इसी मौके पर आ पहुँचे और किशोर ने खन्ना के आगे चित्र सरका दिया। खन्ना ने नीचे के शब्द पढ़े, गरीबी! हँस दिया। किशोर को भी हँसी आ गई, उसने तो वह चित्र बस ऐसे दे दिया जैसे किसी बालक

के हाथ में कोई टेढ़ा-मेढ़ा व्यंग-चित्र। हिश···। दीपचन्द खन्ना बोले क्या मजाक उड़ाते हो यार रंगों से गरीबी का।

क्यों? आराम के स्वर में किशोर ने कहा। आज गरीबी क्या लिखकर समझाते हो! इंसान का चेहरा देख लो, 'भूख' कहकहे लगाती हुई मिलेगी, भूख···।

बस इसके पश्चात् दीपचन्द खन्ना साहेब कितनी देर तक कैसी कैसी बातें करते रहे, लेकिन किशोर उस एक शब्द की गहराई में गोते लगाता रहा। उसे केवल यही बात अच्छी जँची, और वह उसकी तसवीर खींचने के लिये लालायित हो उठा। दीपचन्द उठकर जाने कब चला गया। किशोर के लिये दीपचन्द का अस्तित्व तो उसी समय समाप्त हो गया था, जब उसने यह शब्द उच्चारित किया था। और किशोर खोया हुआ, उस सोफे में अब तक ऐसे गड़ गया था, जैसे वह 'शब्द' उसके मस्तिष्क में उतर उसे विचारों में डुबाये हुआ था।

धीरे से किशोर उठा, उस समय न प्रकाश था और न अँधेरा ही। कुछ ठण्ड की सुरसुराहट आरम्भ हो गई थी। जाकर उसने मुँह में एक सिगरेट दबा ली। हाथ में चेस्टर टाँग लिया, एक बार दीवारों पर सजे अपने चित्रों की ओर उसने बेरुखी से देखा। एक तटस्थ भाव लिये वह चला आया। दरवाजे ढँक दिये, और चल पड़ा। वह चलता रहा। काली सड़क के बाजू में फुटपाथ पर चलता गया। तन्मय, खोया हुआ, अँधेरे की तरह उदास। जैसे अक्सर वह चला करता था, उसे यह नहीं सूझ रहा था, कि वह 'भूख' का चित्र बनाये तो कैसे? कैसे और कहाँ से आरम्भ करे। दुनियाँ के सामने उस भाव को कौन सा रूप दे? और उस पर वह नाम भी न लिखे। बस आदमी, हाँ आदमी, दुनियाँ का आदमी; किसी भी देश का वह क्यों न हो, देखे। देखकर कह दे। नहीं; कहे भी नहीं उसके मुँह से चीख निकल जाय, वह दहाड़ मार कर चीख दे, ऐसी चीख

जैसी आदमी शेर को देखकर मार देता है। किशोर को बड़ी तसल्ली हुई, उसने नई सिगरेट फिर जला ली। भाव फिर खिसकने लगे। हाँ ऐसी चीख, वह ऐसी चीख आदमी के मुँह से निकलवाकर छोड़ेगा। वह ऐसे भयानक राक्षस की तसवीर आदमी को दिखलायेगा। किशोर के कदमों में विश्वास उभर आया। उसका निश्चय पुनः कहने लगा; हाँ वह क्यों न दिखलायेगा। आज दुनिया का आदमी इसका शिकार है। दुनिया की कराहें, केवल इसी की वजह से हैं। वह क्यों न इसका भंडाफोड़ करे, और किशोर धीरे-धीरे चलने लगा। क्योंकि कैसे···? कैसे···? के प्रश्न उसके दिमाग में ढोल की तरह बज रहे थे। वह उसका—निम्न, उस पराकाष्ठा को तो दिखलायेगा···। हाँ···। और अंधेरा बढ़ गया था···। ठण्ड भी बढ़ गई थी। वह काफी दूर तक विचारों में खोया आ पहुँचा था। सहसा एक लकड़ी जैसी किसी वस्तु से उसका पाँव टकरा गया। बा···ब··· जैसी ध्वनि निकली। जैसे कोई तेज हिचकियों में रो रहा है?

किशोर रुक गया। उसने देखा, एक बूढ़ा, बिखरी अधकचरी दाढ़ी सा सारा शरीर, बढ़ती ठण्ड में कँपता, किशोर की ठोकर से कैसा बेचैन हो उठा था।

किशोर रुककर उसे देखने लगा। वह स्वर फिर बजा।

किशोर प्रसन्नता से खिल गया, उसके जी ने चाहा कि एक बार वह फिर कहे। वह उसके अधिक नजदीक चला आया, उसने टूटे हुए शब्दों में कहा, 'तीन दिन से कुछ नहीं मिला···।'

अच्छा···। किशोर की आँखों में वेदना आ भी न पाई थी, कि कण्ठ हँसी से तरल हो गया। उसके कलाकार ने जैसे कहा, अच्छा। और वह फिर गिड़गिड़ाया···। कलाकार अपनी अधीरता को अधिक नहीं रोक सका। बस उसने निश्चय कर लिया। इससे वह अपना काम निकाल लेगा।

इसे इसी वक्त अपने स्टूडियो ले जायेगा। और किशोर बोला, चलो मैं तुम्हें पैसे दूँगा···। चलो···। तुम्हारी भूख···। यहाँ किशोर कुछ रुका, लेकिन झट उसने वाक्य पूरा कर दिया। मैं तुम्हारी 'भूख' मिटा दूँगा···।

उसने उसी दीन स्वर से कहा, जै···हो···बाबू···।

दोनों साथ-साथ चल दिये। किशोर के बेचैन कदम भाग से रहे थे। और बूढ़े के काँपते पग जमीन पर पड़ते और चिपक-चिपक जाते थे। दोनों के दिलों में बेचैनी थी; लेकिन दोनों का अपना-अपना स्वरूप था। दोनों के दिलों में झुँझलाहट थी; लेकिन उसका केन्द्र स्वतः में न होकर वह गति थी, जो यह भेद बनाये हुए थी, और बढ़ाती जा रही थी। दोनों अपनी-अपनी गति से अपनी व्यग्रता लादे, चलते चल रहे थे।

स्टूडियो के दरवाजे खोल जैसे ही किशोर ने बटन दबाया; उस प्रकाश में बूढ़े की बेबसी वस्त्र-विहीन हो गई। रात के भींगने से ठण्ड बढ़ चुकी थी, उसकी ठिठुरन बढ़ गई थी, और इतनी दूर का रास्ता कांपते-भागते पार करने के बाद उसमें खड़े रहने की शक्ति भी नहीं बची थी। वह रंगीन-चित्रों को ऐसे देख रहा था, जैसे दीवाली के मौसम में रंगीन मिठाइयों से सजी दूकान।

कलाकार ने विजय की मुसकुराहट में भरे-भरे कहा, हाँ मैं जीत जाऊँगा। मैं दुनियाँ को वह चित्र दे सकूँगा। और उसने बिना पल भर देरी किये सामान इकट्ठा करना आरम्भ कर दिया। पल ही भर बाद उसने तैयारी कर ली, और बूढ़े बाबा के समीप पहुँच बोला। हाँ ऐसे, बस-बस ऐसे ही हाथ फैलाये खड़े रहो, देखना तुम्हारी हथेली रुपयों से भर जायेगी। किशोर हँस रहा था, बाबा ने भी संतोष के सम्हले स्वर में कहा, जय···हो···बाबा···। वह उसकी हँसी का स्वर माना जा सकता था।

किशोर के हाथ रंगों से खेलने लगे। और वह लम्बी-आड़ी-तिरछी लकीरें खींचने लगा। उस कोरे कपड़े पर एक ताना-बाना बनने लगा। वह खींचता गया, पागलों की लापरवाही और एकाग्रता से। उसे जैसे और कुछ-किसी का पता ही नहीं था। किसी बात की जानने की आवश्यकता भी नहीं थी। रात बढ़ रही थी। साथ ही भीगती भी जा रही थी। हाँ किशोर बार बार घूमकर 'बाबा' को देखता भी जाता था। सहसा वह रुक गया, उससे अपना चेस्टर उतार दिया था, उसके शरीर पर एक मामूली कमीज थी। फिर भी वह कुछ कुछ गर्मी का अनुभव सा कर रहा था। उसने बाबा को देखा और किशोर का मुँह 'फक' से रह गया। 'बाबा' की कँपकँपी स्टूडियो की गर्मी से कमती जा रही थी। लपककर आजू-बाजू की बड़ी बड़ी खिड़कियाँ उसने खोल दीं। बाहर की आवारा हवा, 'बाबा' के शरीर में आकर चुभ गई। बुरी तरह पीड़ित स्वर में बोल उठा—बाबू ''। किशोर की उतरी खुशी अपने बिन्दु पर जा पहुँची उसने झट कह दिया, थोड़ी देर और बाबा। बस ध्यान लगाये रहो, तुम्हारी हथेली गर्म हो जायेगी!

बाबा ने एक खोखली लम्बी साँस ली, और धीरे से जाने क्या बोलकर रह गया।

किशोर अपने काम में ऐसा भिड़ा कि उसे कुछ देखने या सुनने की फुरसत ही कहाँ थी। उसकी आँखें चमक रही थीं, और उसके हाथ तूलिका पर रँगों से खेल रहे थे।

और बाबा को लग रहा था, वह कैसे प्रपँच में आ फँसा है। इतनी जल्दी चलने से उसकी पिंडलिआँ ऐंठ सी गईं थी। और पेट की भूख आँखों से बरस पड़ने के लिये कुलबुला सी रही थी। उन्हें उस रँगों से सजे कमरे को देख और भी बहुत कुछ याद आ रहा था। और वह उन तसवीरों को पापड़ की नाईं खा जाने के विचार में आकुल हो रहा था। किशोर ने देखा। बस देखता ही रह गया। अरे...अरे...बाबा कहता वह उस

जर्जर काया के समीप आ पहुँचा। घिघियाए स्वर में बोला, बस बाबा थोड़ी देर और, मैं तुम्हारी भूख हमेशा के लिये मिटा दूँगा···। बस···। लेकिन बाबा, निश्चयात्मक स्वर से नहीं बोला। किशोर ने हड़बड़ाकर यहाँ–वहाँ देखा। गौतम की एक प्रस्तर मूर्ति समीप रक्खी हुई थी। झट उसने बढ़कर उठा लिया; बोला, इस पर ध्यान लगाओ। बाबा ने तब और भी ऊँचे-भूके स्वर में कहा; नहीं मेरा ध्यान पत्थर की मूर्ति में नहीं लग सकता···। घिघियाए उदास स्वर में किशोर ने कहा, थोड़ी देर। फिर इस अधूरे चित्र की ओर देखते उसने कहा केवल पन्द्रह मिनिट···। केवल पन्द्रह मिनिट बाबा···।

लेकिन बाबा ने जैसे निश्चय कर लिया था, बोला नहीं नहीं मुझे भूख लगी है; भूख···।

अच्छा···। अच्छा···। कहता, वह अपनी अलमारी के समीप पहुँचा, उसे याद सा आ गया कि खन्ना हमेशा कुछ न कुछ खाने पीने की चीजें ले आया करता था। बढ़कर किशोर ने अलमारी खोली। मुख खुशी से ऐसे भर गया, जैसे स्वादिष्ट निवाला मुँह में पड़ गया हो। कुछ केक-पेस्ट्रियाँ प्लेट में रखी हुई थीं। वह उनको लेकर बाबा की ओर बढ़ा। बाबा की भूखी आँखों ने उन्हें समीप आता देख कुछ इस प्रकार निहारा कि किशोर ठिठक गया, रुक गया। आगे कदम न रख सका, और उन आँखों की भूख उमड़ सी पड़ी, बरसाती बाढ़ की नाईं, और इस अँधेरे में बीतती रात में बूढ़े का एक भूखा स्वर उठा लाओ···। किशोर की आँखें अधिक चमकने लगीं, उसे लगा मुझे यही बात तो चाहिये, उसने जानवर की तरह गरज कर कहा, ठहरो···।

बाबा ठिठक गया···।

किशोर फिर बोला, बस इसे देखते रहो, थोड़ी देर। समझे! बढ़ना मत। और उसने प्लेट कुछ दूरी पर रख कुर्चियाँ सम्हाल लीं।

बाबा का नशा उस फटकार से फट गया, और वह मौन घिघियाई भूखी आँखों से उन रंगीन पदार्थों को देखता रहा।

लेकिन किशोर अब कूची से खेल रहा था, और वह उस दाह की लपटों में जीवन दे रहा था, उसकी आँखें चमक रही थीं, और चित्र इतने समीप पहुँच चुका था, कि जितना रात प्रकाश के।

बाबा की झल्लाहट बढ़ गई, रोष में आँखें उन चीजों से उठा दीं। सामने तूलिका को देख ठिठक गया, अभी-अभी उसने रंगों की आड़ी-टेढ़ी रेखायें देखीं थीं, लेकिन अब'' अब'' बाबा'' एक प्रेत को देख रहा था, ललकार के साथ वह कँप गया, भय उसकी आँखों में समा गया, जोर से औंधे मुँह वह गिर पड़ा, उस प्लेट के समीप, बिलकुल समीप जहाँ वह पहुँचने के लिये लालायित था। उसके मुँह से झाग निकलने लगी, और भय-मिश्रित स्वर में वह बड़बड़ाता रहा'' प्रेत'''' प्रेत।

किशोर को अब समय ही कहाँ था, और बाबा की आवश्यकता ही क्या थी, अब वह केवल अन्तिम चीजों का पुट वहाँ दे रहा था। और किशोर ने सिर उठाया, एक जम्हाई ली, नींद बोझ सी आँखों में भर आई थी, रात बीतना ही चाहती थी, उसने घूमकर देखा; और चौंक गया। यह क्या ? अरे बाबा''! इस जम्हाई के साथ कलाकार गुम चुका था; बच रहा था। किशोर। वह समीप पहुँचा; बोला बाबा'' बाबा'' उठो'' उठो बाबा''। लेकिन बाबा के मुँह की झाग; प्लेट को छू रही थी।

किशोर ने उठकर अपना चेस्टर उठाया, बाबा पर डाल दिया, फोन उसने बुरी तरह बेरहमी के साथ खटखटा दिया, वह कह रहा था, हाँ डाक्टर, पौ फट रही है, तो क्या...आओ, बस चले आओ''। हाँ पैसों का क्या''? हाँ'' अभी'' इसी वक्त''।

और किशोर बाबा के समीप पहुँचकर उसकी झाग भी साफ नहीं कर पाया था; कि कार घर्र से रुकी। किशोर बढ़ा, और डाक्टर ने कहा, तुमने तो नींद ही हराम कर दी''।

किशोर बोला, इसे देखो'' डाक्टर''। डाक्टर ने नाक-भौं सिकोड़ी, किशोर के तीव्र आग्रह से भौंचक हो उसने नाड़ी देखी, हृदय की गति देखी...कि एक हल्की आवाज उठी, प्रेत''प्रेत''। और सिर ढ़लक गया।

डाक्टर सिर हिलाते हुए उठे, और सामने जैसे नजर पड़ी बोल उठे, प्रेत''ये''। और रुक गये।

किशोर खामोश उस चित्र को देखता रहा''। डाक्टर ने सम्हलकर अपनी शर्म छिपाते हुए कहा, बूढ़े के प्राण तो इसमें पड़ गये, ओफ'' भयानक''।

और डाक्टर चलने का उपक्रम करने लगे, किशोर उन दोनों के बीच में खड़ा खामोश अपनी ही नजर में मुजरिम बना हुआ था। बाहर पौ फट रही थी, पक्षियों का कलरव आरम्भ हो गया था, किन्तु भीतर.....।

हवलदार रामसींग

रामसींग को केवल चौबीस घँटे पूर्व सूचना मिली कि उसे जबलपूर छोड़ना होगा। जब इस सूचना की भनक रामसींग के कानों में पड़ी, उस समय वह दिन की परेड से छुट्टी पा खाट पर टाँगें सीधी कर रहा था। उसके कवायदी गठे शरीर में परिश्रम के बाद की सुस्ती आ गई थी। उसकी मुखाकृति पर अस्वाभाविक चिन्ता की पीड़ा से उदासी छा गई थी। इस समाचार ने उसे एकदम चौकन्ना कर दिया वह उठकर खाट पर बैठ गया। दस वर्षों से निरन्तर 'लैफ्ट-राइट' करते करते अपने बाजुओं पर तीन सफेद पट्टियाँ चढ़ा ली थीं। वह हवलदार बन चुका था; आज वह रोबीली आवाज से अपनी टुकड़ी के सिपाहियों को कवायद कराता था। फौजी बेगार का काफी बड़ा भाग उसकी दिन चर्या से हट गया था। अब उसका जीवन एक छोटे-मोटे अफसर का जीवन बन चुका था। किन्तु इन पिछले दस वर्षों में उसे सिपाहियाना जीवन कभी, किसी पल इतना नहीं खला था जितना इस समय खल रहा था। उसे खाकी वर्दी, काले बूटों से चिढ़ सी हो गई थी। चौबीस घन्टे के बाद जबलपुर छोड़ने के समाचार ने उसे बिलकुल पागल सा बना दिया इसलिये नहीं कि केवल चौबीस घन्टे बाद उसे जबलपूर छोड़ देना होगा। बल्कि काश्मीर की वादियों में जान की बाजी लगानी पड़ेगी।

उससे पहले उसे अनेक बार चौबीस वया दो तीन घन्टे पूर्व-शहर और मोर्चे छोड़ने के हुक्म मिल चुके थे। पिछले युद्ध में ही वह कम

से कम आधे दर्जन मोर्चों पर सिपाही और नायक की हैसियत से लड़ चुका था। तब वह गुलाम था; एक किराये का सिपाही था; लेकिन उस समय भी बारूद और लपटों के मध्य से चलते हुए उसके मस्तिष्क पर पीड़ा और चुभन की यह तीव्रता न जग पाई थी। उसने कभी किसी दिन विदेशियों के लिये विदेशों में लड़ते हुए एक पल के लिये भी न सोचा था कि वह क्यों व्यर्थ में अपने प्राण संकट में डाले। बस उसे इतना ही लगता था कि वह 'केवल एक सिपाही है; और उसका धर्म सिपाहियाने कर्त्तव्य को निभाना मात्र है।

आज अपने पुराने विश्वास की नींव पर तैयार हुई उसकी अपनी आस्था की नींव डगमगाने लगी। जिस पर जिन्दगी की बाजी लगाकर वह हवलदार बन गया था; वह अचानक समय के भयंकर थपेड़ों से हिलती सी लगी। यद्यपि वह युद्ध के बाद इन कुछ वर्षों से ही जबलपुर में टिका था; तथापि उसकी दृष्टि से जबलपुर या काश्मीर में कोई अन्तर नहीं था।

इतने वर्षों के अन्तर के बाद भी उसे जबलपुर की भाषा, पहनाव खान-पान सभी कुछ अजीब से लगते थे। उसे सदा यही याद रहता कि वह लम्बी शलवारों और रंगीन दुपट्टों के देश का रहने वाला है। उसे बँगला पानों की अपेक्षा लस्सी के ग्लास में दिलचस्पी है। वह जालंदर के समीप के छोटे से गाँव को अपनी जायदाद समझता है। फौज में भर्ती होने के बाद केवल एक बार ही नौकरी के आरम्भ से वहाँ जा सका है। इसके बाद उसे कोई मौका या तो मिला ही नहीं; या तो किसी और कारण से जा नहीं पाया। हवलदार रामसींग अपने इस बीता भर के गाँव के बाहर की तमाम दुनिया को विदेश समझता है। उस गाँव के पेड़ों से लगाकर हर गाँववासी को अपने शरीर के अंगों के समान प्रिय समझता है। उसके सभी दोस्त, प्रीतम, गुरुबख्श, बलराम इत्यादि वहीं हैं; अपनी अपनी जमीनें जोतते हैं। जमील खाँ मौलवी हैं; जो गाँव के हर निवासी के उस्ताद हैं। उसी छोटे गांव से रामसींग का लगाव है।

किन्तु रामसींग आज उस गाँव के लिये भी उतना व्याकुल नहीं है। जीवन में कभी वह दो पल चैन से बैठकर सोच नहीं सका है; इसलिये अपने सोच-विचार की इस उलझन को वह सरल भी नहीं कर पा रहा है। बस, फिलहाल वह काश्मीर नहीं जाना चाहता।

रामसींग उठा। उसकी टुकड़ी को कल कूच करना था, इसलिए सभी तैयारी में लग गये थे। रामसींग निश्चिंत सा उठकर क्वार्टरों के पीछे खुले मैदान में निकल आया। खुली हवा में सिर की पीड़ा कुछ कम होती प्रतीत हुई। साथ-साथ भीतर की पीड़ा भी मस्तिष्क में स्पष्ट आकार ग्रहण करने लगी।

रामसींग को पुनः अपना गाँव याद आया। उसके ओठों पर हल्की सी मुस्कराहट उतर आई। हाँ भाग्य से बँटवारे की तेग से जिबह जिबह हुए पंजाब के इसी टुकड़े में उसका गाँव आ गया जो इस देश के हिस्से लगा। किन्तु वह बोझ से दबे हुए मनुष्य की तरह उसका मुँह मलिन पड़ गया। उसने अपने गाँव को तो इस पार देखा, किन्तु अपने साथ ही उसने अपनी ही भाषा बोलने वालों को, अपने हम-वतनों को, अपने धर्मावलम्बियों को, तार-तार शलवारों में, बिना ओढ़नियों के, लोहु-लुहान, घसिटते हुए, कराहते हुए मेलों में इस ओर आते देखा; देश में, शहरों में, गाँवों में अपनी इज्जत को छिपाने के लिये रोते और भटकते देखा···।

और हवलदार रामसींग का मुँह गुस्से में कठोर, गोंड़वाने के टीलों सा ठोस दिखलाई देने लगा। वह यकायक चौंक सा उठा कि अब हमें ऐसे ही मुसलमानों की रक्षा करने काश्मीर जाना है। क्यों? क्यों? और इसी क्यों के उत्तर को प्राप्त करने के लिये इस समय उसके भीतर एक आन्दोलन चल रहा था।

रामसींग इसी भावना में खोया भीतर के प्रश्नों को खोजता हुआ मैदान के छोर तक पहुँच गया था।

तभी तीन-चार सिपाही उस ओर से टहलते हुऐ वापस आ रहे थे; उनमें से एक बोला—"हवलदार साहेब लौटेंगे नहीं, 'रोल-काल' का वक्त हो गया।" हवलदार रामसींग के कानों में 'रोल-काल' की बात ही पड़ते उसके भीतर का सिपाही चौंक उठा, जाग गया।

हवलदार ने कहा; हाँ...हाँ चलो...। और वह उनके साथ हो लिया।

सभी कल की यात्रा के विषय में बातें कर रहे थे। हवलदार रामसींग भी हाँ...हाँ...हूँ...हूँ...करता हुआ मौन चला चल रहा था। इस बीच में उसके भीतर का सिपाही पूरी तरह जाग चुका था। सोच-विचार उसके ठोस जीवन में नये पौधों की नाईं परस्थितियों के कारण ऊग रहे थे। वे भी इस ऊसर-भूमि से कहाँ तक पनपते! हाँ-किन्तु वे जम चुके थे जिससे भीतर की साफ चमकती तलहटी अब कुछ अजीब सी दिखने लगी थी।

अब तक के विचार रामसींग के भीतर यद्यपि बने तो रहे, किन्तु उनकी गति शिथल पड़ गई। उनका जोश स्थिर सा हो गया। उसे लगा उसका अपना व्यक्तित्व ही क्या? वह सिपाही है। सिपाही की जिन्दगी आज्ञा की पृष्ठभूमि पर तैयार होती है।। और वह अब कर ही क्या सकता है। तभी वे सब क्वार्टर्स के समीप पहुँच चुके।

एक जमादार साहेब में बढ़कर हवलदार रामसींग के हाथ में कुछ सरकारी कागजात सौंप दिये।

रामसींग अपने खाट के समीप पहुँचा। 'किट' पर एक दृष्टि डाल सामान इकट्ठा करने लगा।

आज हवलदार रामसींग को पठानकोट पहुँचे दूसरा दिन था। उसे अपनी टुकड़ी के जमादार से सूचना मिल चुकी थी कि किसी भी घन्टे आगे

बढ़ने का फौजी-हुक्म प्राप्त हो सकता है। इस दस साल की जिंदगी के अनुभवों ने उसे 'फौजी-हुक्म' का भली-भांति अर्थ समझा दिया था। इसलिये उसने अपनी ओर से पूरी-पूरी तैयारी कर रक्खी। झील के किनारे हरे जंगल में खेमों की ओट से सिपाही इकट्ठे किये गये थे। आबादी यहाँ से काफी दूर थी। यहाँ वीरान था, शांति थी, प्रकृति का अजीब नशैला वातावरण था। किन्तु रामसींग को इससे क्या लेना था। इस देश की भूमि के ऊपर कदम रखने के बाद ही उसके भीतर के भय की पुष्टि हो चुकी थी कि काश्मीर की अधिकतर आबादी मुसलमानों की है। मुसलमानों की स्मृति के साथ ही रामसींग का मुख क्रोध और रोष में हमलेवर कबीलों की नाईं वीभत्स और भयावह दिखलाई देने लगता।

हाँ, ये वही मुसलमान हैं जिन्होंने उसके रिश्तेदारों को, उसकी कौम को लोहू-लुहान कर 'जीवित-लाशों' की हालत में इस देश की सीमा में ढकेल दिया। आज वह उन्हीं को बचाने के लिये यहाँ आया है। रामसींग के भीतर का क्रोध फिर उभर आया। वह अपने एक साथी को साथ ले खेमों के बाजू में लगे लम्बे लम्बे छायादार चीड़ के वृक्षों के मध्य टहलने लगा।

साथी ने कहा— ये भी अजीब जगह है...।

रामसींग ने अनमने भाव से उत्तर दिया—हर नई जगह अजीब होती है...। उसका साथी जो ओहदे से नायक था; रामसींग के चेहरे को कुछ आश्चर्य चकित सा देखने लगा। यद्यपि रामसींग के उत्तर में आश्चर्य पैदा करने वाली कोई बात ही नहीं थी; किन्तु फिर भी उसके बोलने के लहजे में जो लापरवाही थी, वही नायक को खटकी।

नायक बोला—हवलदार साहेब, आजकल आप बड़े उदास रहते हैं? रामसींग ने उसकी ओर देखा, कुछ बोलने का उपक्रम किया किन्तु बोला नहीं; रूखी सी हँसी हँसते हुए प्रश्न कर बैठा—आप जबलपुर के रहने वाले हैं।

नायक बोला—हाँ···।

रामसींग बोल उठा—तब आप हमारे दर्द को कैसे समझेंगे ? हमारी उदासी को क्योंकर समझ पायेंगे। आपका देश, आपकी भाषा; आपका रहन-सहन इस बड़े तूफान के बाद भी सही-सलामत है···। आप इसे कभी नहीं समझ पायेंगे···।

नायक—नहीं··नहीं··हवलदार साहेब आप इस देश के और भी ज्यादह टुकड़े क्यों कर रहे हैं ? इसका असर सभी जगह हुआ है···।

हवलदार रामसींग ने आवेश में आकर कहा—नहीं कदापि नहीं, ऐसा कभी नहीं हुआ, ऐसा ही होता तो हमारा दर्द हद के बाहर न बढ़ता।

नायक ने बहस करना उचित न समझा। कुछ ओहदे के कारण, और कुछ हवलदार की अद्‌भुत मनःस्थिति देखकर। वैसे नायक ने रामसींग में यह परिवर्तन कई दिन पूर्व अनुभव किया था; किन्तु पूछने की स्थिति ही पैदा नहीं हो पाई थी। कुछ थोड़ी सी बात के बाद नायक को छिपे हुए घाव का पूरा अन्दाज मिल गया। दोनों मौन रहे। कुछ दूर आगे बढ़कर लौट पड़े। नायक का चेहरा भी कुछ मलीन पड़ गया।

लौटते हुए रास्ते में एक अधेड़ पागल सा अस्त-व्यस्त आदमी मिल गया। इस वीराने में यह पहला आदमी था। दोनों की दृष्टि एक साथ उस पर पड़ी। दोनों की मुखाकृति इस अधबूढ़े को देख कौतूहल से भर गई। दोनों रुक गये। वह बूढ़ा स्वयं इनकी ओर धीरे-धीरे बढ़ता आया।

बड़ी विचित्र मुद्रा थी उस बूढ़े की। अस्त-व्यस्तता ही उसका यथार्थ व्यक्तित्व था। वह काश्मीर की धरती का एक फूल था, जो डाल से गिर चुका था; किन्तु भूमि पर नहीं पहुँच सका था। वायु के झोंकों के साथ

भटक रहा था। समीप पहुँचते ही रामसींग से उसने कहा—मेरी नूरी को तुम चुरा ले गये, बड़ा अच्छा किया। लेकिन उसके बेटे को क्यों टीलों पर फेंक गये! फिर वह नायक से कहने लगा— रजिया तुम्हारे घर है! मुझे भी अपने घर ले चलो ना···!

और वह फूटकर रो पड़ा। दोनों अचम्भे में आ गये। साथ ही दोनों को स्पष्ट रूप से बात समझ में आ गई। नूरी और रजिया···! इस धरती की दो कलियाँ—इस बूढ़े की दो आँखें आज इससे जबर्दस्ती वो छीन ले गये। वो हमलेवर कबीले·····।

नायक ने दुलराते हुए कहा—बाबा, हम इसीलिये तो आये हैं, हम उन कबीलों से तुम्हारी नूरी और रजिया को वापस ले आयेंगे···। हम···। बूढ़ा हँस पड़ा। इसके साथ ही हवलदार रामसींग गुस्से में तमतमा उठा। वह जोर से बोला—तुम मुसलमान हो ना? तुम्हारी नूरी और रजिया भी मुसलमाननी हैं। नहीं··हम उन्हें नहीं बचायेंगे। नहीं··नहीं···।

बूढ़ा उस तेज आवाज के उत्तर में कह उठा—तुम खूँखार··जालिम ··तुम··तुम क्या, उन्हें कोई नहीं बचा सकता? कोई नहीं··अल्लाह भी नहीं··?

नायक घबरा गया। रामसींग और भी तेजी से बिगड़ उठा—हाँ, हाँ··नहीं बचायेंगे·· जाओ···जाओ·· और उस बूढ़े को जो अस्त-व्यस्त था ढकेलने लगा।

नायक ने रामसींग को पकड़ लिया। रामसींग गुस्से में काँपता रहा और साथ ही साथ चीखता रहा। भाग जाओ...भाग जाओ...।

बूढ़ा चल पड़ा; फिर दूसरी ओर तेजी से चलने लगा। रामसींग गुस्से में काँप रहा था, साथ ही तेजी से हाँफ भी रहा था। वह चीख उठा—क्यों बचाये वह। उसके साथियों को किसने बचाया, किसने...बचाया?

बूढ़े की लड़खड़ाती आवाज सुनाई देती रही—मत बचाओ..... मत...। और वह लम्बे-लम्बे पेड़ों की झुरमुट में छिप गया। दूर की झील में एक तेज छपक की आवाज आई, और 'मत बचाओ' की ध्वनि दुबारा नहीं सुनाई पड़ी।

दोनों मौन हो गये। नायक रामसींग को कैम्प की ओर ले गया। उसने उसे बिस्तर पर लिटा दिया। नायक रामसींग को लिटाकर अपने अफसर के पास चला गया।

करीब एक घन्टे के बाद नायक जब रामसींग के खेमे में लौटा तब उसके हाथ में एक सरकारी कागज था। रामसींग की आँख लगी हुई थी। नायक भी अपने बिस्तर पर लेट गया।

दूसरे दिन रामसींग जब उठा तब उसका मन रात की अपेक्षा कुछ हलका था। चेहरा फिर भी उदास था। नायक ने रात वाला कागज उसके हाथ में दे दिया।

रामसींग गुब्बारे की नाईं ऊपर उछल पड़ा। उसके भीतर-बाहर की सारी मलिनता मिट गई। पूरे पन्द्रह दिन की छुट्टी का आर्डर था। वह यही चाहता था। जीवन में पहली बार युद्ध के मैदान से उसका हृदय भाग जाने को चाहता था। उसे मुक्ति मिल गई। उसने उसी पल से तैयारी आरम्भ कर दी। रामसींग की कुछ समझ में नहीं आया। कैसे उसे बिन-माँगे छुट्टी मिल गई। नायक उत्तर में मुस्कराता रहा। उसने रामसींग का 'किट' स्वयं तैयार कर दिया। उसे फौजी लारी में बैठा स्टेशन रवाना कर दिया तब कहीं उसने चैन की साँस ली।

* * *

सारे रास्ते में वह रंगीन स्वप्न देखता हुआ अपने गाँव पहुँचा। रास्ते में उसने यह निश्चय कर लिया कि अब छुट्टी के बाद उसे नहीं लौटना है। उसे इस इक तरफा निर्णय का प्रतिकार करना है। उसकी स्मरणशक्ति तनिक भी क्षीण नहीं हो पाई थी। उसे अपने गाँव के हर मोड़ पर पड़े पत्थर और वृक्ष भी याद थे। वह पहुँचकर वहाँ के कण-कण से लिपटकर हृदय की अशान्त ज्वालाओं को शान्त कर लेना चाहता था।

जालन्धर के बाद उसे लारी से जाना पड़ा। कोई दो घन्टे बाद रात के करीब दस बजे वह अपने गाँव पहुंच गया। गाँव छोटा था; दस बजे से गाँव का जीवन अर्धरात्रि की नाईं गम्भीर और सुनसान पड़ जाता था। दो...एक चिराग दिखलाई देते; या आराम से टहलते हुए कुत्ते जो मौज में आकर आसमान की ओर मुँह उठाकर भोंकने लगते। हाँ दो...एक...गाँव के आदमियों से भेंट अवश्य हो सकी, और सुबह मिलकर बातें करने का निश्चय हुआ।

हवलदार रामसिंग घर पर कोई समाचार ही न भेज पाया था। केवल जल्दी के कारण वह असमर्थ था; किन्तु, भीतर ही भीतर इस समय उसे सुख प्राप्त हो रहा था। अचानक जब चाचा उसे अपने सामने देखेंगे; उसके बाजू पर तीन पट्टियाँ पायेंगे, तब प्रसन्नता से उछल पड़ेंगे। उसकी बहन खुशी से चीख मार देगी; और चाची...। रामसींग अपने मकान के बिलकुल सामने खड़ा था। उसने कुण्डी खटखटाई, और चाचा जो कमरे में किसी चीज की गिनती कर रहे थे बोल उठे---कौन...? और बढ़कर भीतरी साँकल खोल दी...!

रामसींग ने दहली पर ही, दरवाजों के खुलने के साथ चाचाजी के पाँव छू लिये। चाचाजी कौतूहल से चीख उठे। रामसींग और वे सारी गिनती बिनती भूल गये।

रामसींग ने अपना किट बाजू में पटका। चाचा की भारी आवाज ने घर के सभी लोगों को जगा दिया। सभी अपने बिस्तरों से निकल उसनींदे— हँसते उस कमरे में इकट्ठे हो गये।

रामसींग अपनों के मध्य घिरा क्षण भर के लिये अपना अस्तित्व भूल गया। हँसता मुस्कराता हुआ वह अनेक प्रश्नों का उत्तर देता रहा।

चाचा ने बिगड़ते हुए कहा—अरे उसे कुछ खाने-पीने दोगे, आराम करने दोगे या नहीं ?

सभी को चाचा की सूझ पसन्द आई; रामसींग ने बूट ढीले किये; पसीने से लथपथ कमीज अलग डाल दी। तहमत लगा आँगन में हाथ-मुँह धोने चला गया।

फिर उस समय किसी ने रामसिंग को अधिक तंग न किया। उसने कुछ खाने की अपेक्षा केवल एक ग्लास दूध ही पिया। वह लेट गया। सभी पूँछने को भूल से गये कि उसे कितने दिन की छुट्टी मिली है।

सब सो गये। दूसरे दिन जब रामसींग उठा, तब दिन ऊपर तक हलका सा चढ़ आया था। आँख खुलते ही उसने अपना बदन फूल सा हलका पाया, मस्तिष्क चिन्ताओं से व्यस्त। सिपाहियों की नाईं फुर्ती से वह उठा और आँगन में पहुँच गया।

उसके आने की सूचना गाँव में फैल गई—एक मुँह से दूसरे मुँह और, दतून करता वह, बातें करता खड़ा रहा। जिनके साथ वह बढ़ा था, खेला था, हँसा था और रोया था, वे ही गुरुबख्श, प्रीतम, बलराम आज उसी की नाईं ऊँचे-पूरे हो गये थे। उनके चहरे अब भी वैसे ही परिचित से थे, जैसे आज से कई वर्ष पहले जब वह यहाँ रहता था।

सभी साथियों ने उससे कहा—चल गाँव की सैर कर ले···। अब तो गाँव काफी बदल चुका है। कोठियाँ बन गई हैं; खण्डहर भी आबाद हैं।

रामसींग ने दतून भी नहीं की थी। किन्तु उनके आग्रह को वह टाल नहीं सका। फिर तो वह स्वयं भी गाँव के, अपने—अपने साथियों को जी भर के देखना चाहता था। कितने वर्षों बाद वह आ पाया था!

रामसींग कौतूहल भरी दृष्टि से अपने गाँव की ओर देख रहा था। दूर-दूर तक आँखें फैलाकर देखता रहा। उसे लग रहा था कि उसका गाँव एक लम्बी बीमारी के बाद पुनः स्वस्थ हो रहा है। बीमारी द्वारा पैदा हुई कमजोरी उसके चप्पे-चप्पे में झलक रही है।

रामसींग बोल कम रहा था; देख अधिक रहा था। मोड़ पर उसकी दृष्टि गई; सदा इस स्थान पर सारस की गर्दन सी ऊँची गुम्बज चमकती हुई दिखलाई दिया करती थी। वह खण्डित-टूटी हुई पड़ी थी।

रामसींग के भीतर किसी ने चुटकी ले ली; सहसा बोला; प्रीतम इसे क्या हो गया?

हँसते हुए गुरुबख्श ने उत्तर दिया—उसी मस्जिद में तो हुई थी गदर? गाँव के बाहरी हिस्से में पहुँच चुके थे, रामसींग अपनी कौम को अपने साथियों को ऐसा नहीं समझता था। इस खूनी प्रवृत्ति का दोष वह उन कबीलों के सर पर ही थोप रहा था जो काश्मीर में तूफान पैदा कर रहे थे, जिन्होंने शेखपुरा और लायलपूर में अपनी तलवारों का जौहर दिखलाया था। जिन किस्सों को सुन-सुनकर उसका पुराना सिपाहियाना विश्वास डिग गया था। जिसके कारण उसे अपने गाँव चले आना पड़ा। रामसींग इन्हीं विचारों में बहा जा रहा था। उसके साथी तालियाँ पीटते हुए गीत की लाइनें दोहरा रहे थे। बीच-बीच में अद्भुत प्रश्न करते रामसींग को तंग भी कर रहे थे।

प्रीतम ने गाने को रोकते हुए कहा—यार तू न हुआ, वर्ना उस गदर में तेरा भी दिल खुश हो जाता।

बलराम बोला—मौलवी की दाढ़ी जब जली। अरे भाई क्या पटाखे जलेंगे। उसकी चीखों से सारा गाँव दहल गया।

रामसींग बोला—वो मौलवी, जिसने सारे गाँव को, गाँव के वृद्धों से लेकर बच्चों तक को, गोया पीढ़ियों को शिक्षा-दान किया था। रामसींग का अनुमान तो था ही कि उसके गाँव में भी हुआ है किन्तु इतने दूर तक की उसने कल्पना नहीं की थी। वह ऐसी भयानक कृत्य की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था।

प्रीतम मौलवी की नातिन सकीना की सुन्दरता का वर्णन जीभ चटकारते हुए कर रहा था। जिस समय रामसींग ने गाँव छोड़ा था तब सकीना बची थी। आठ·· नौ वर्ष की·· भोली सी···। उसे वही भोली बच्ची सकीना याद थी। इन आठ वर्षों के बाद वह युवती हो गई थी। प्रीतम के प्राणों में महुआई भरने की क्षमता उसके अंगों की लुनाई में आ गई थी।

और तब बलराम बोल पड़ा। उसके बारे में न सोच रामसींग! उसे प्रीतम ने अपने घर बैठा लिया है।

सब जोर से हँस दिये। रामसींग के साथियों को यह बहुत ही बुरा लगा। उसे अपने बचपन के साथियों के चेहरे कबीलों के चेहरे से दिखाई देने लगे। वही हँसी; वही तूख; वैसी ही प्यास···।

ओफ कितनी बदबूदार बातें हैं ये! उसे उस मौलवी का चेहरा याद हो आया, जिसकी दाढ़ी इन लोगों ने जला दी। उस चीख का भी रामसींग ने स्मरण किया। उसे वह चीख वैसी ही करुणाजनक लगी जैसी उसने काश्मीर के उस वीराने में उस बूढ़े की सुनी थी। उसके अन्तिम शब्द भी उसे याद आ गये—तुम क्या बचावोगे...क्या बचावोगे...! और रामसींग के नेत्र गीले हो गये।

उसे सभी स्पष्ट समझ में अब आ रहा था। उसे इससे भी अधिक यह स्पष्ट हो गया कि उसे काश्मीर भेजा क्यों गया था? उसे लगा—हाँ उस मासूमियत को बचानें, जिसे वह अपने गाँव की अपने कौम की जायदाद समझ रहा था। वह युद्ध के मैदान से वही खोजने अपने गाँव आया किन्तु यहाँ भी उसे वह न मिली। मिला कबीलों का वीभत्स प्रताप...! और उसने तय कर लिया, कि वह काश्मीर जायेगा, वापस जायेगा। उसे बचायेगा जिसे खोजने वह यहाँ आया था।

सब घर की ओर लौटे; रामसींग ने गिनती लगाई--दस दिन छुट्टी के बचे हैं।

बलराम ने प्रश्न किया—कितने दिन की छुट्टी पर आया है? रामसींग ने दृढ़ता के साथ सधे स्वर में कहा—केवल तीन दिन की...।

सभी चौंक गये। और, ऐसे देखने लगे जैसे वह कोई पागल है।

और रामसींग काश्मीर के उस बूढ़े के काँपते स्वर को याद कर रहा था, जो झील की गहराई में खो गया था। हर कदम पर मानों वह बोल रहा था—मैं आ रहा हूँ बाबा.. मैं आ रहा हूँ.....मैं वापस आ रहा हूँ.....मैं अगर बचा न पाया तो तुम्हारे पास पहुँच जाऊंगा।

और रामसींग घर पहुँच लौटकर तैयारी करने लगा।

सौदा

सुखराम जब घर पहुँचा, तब दहलीज पर रुक गया। थकावट से उसकी पलकें नीचे की ओर ढलने लगीं। मुँह पर वेदना पसीने की तरावट जैसी स्पष्ट दिखलाई दे रही थी, और ऐसी अवस्था में परिचित काँखने का दबा कसकसाया स्वर भीतर से उस तक पहुँचा। दिन भर की मेहनत से मला सुखराम इस परिचित काँखने की भनक पा अधीर, ऐसा अधीर हो गया जैसे बहुधा सुनरहाई के दोनों बाजू में सोना-चाँदी की चहकती दुकानों में खन्न—खन्न सुनकर हो जाया करता था! मिट्टी के फर्श पर अपने कदम जोर से पटकते हुए उसने अपनी व्यग्रता प्रगट की। काँखने की कसक दबी-दबी हलकी उठ रही थी, साथ ही शब्द उठे—आ'' गये।

हाँ···। सुखराम ने इस प्रकार 'हाँ' को उच्चारित किया, जैसे उसका अर्थ हो कि 'नहीं' और बिना उस ओर देखे, वहउ स धुँधले में धीरे-धीरे टहलने लगा। उस छोटी सी कोठरी में; उसका जी घबरा रहा था; वह रुक गया। समीप पहुँचते हुये उसने उस काँखने वाली का माथा स्पर्श किया, और कहीं तुगनी देर बाद जाकर एक खोखली हँसी उस कमरे में गूँजी···! कहाँ रहा ज्वर··वर! और निर्निमेष नेत्रों से उसे देखने लगा!

सिकुड़ी सी वह देर से सुखराम पर अपने नेत्र गड़ाये हुए थी। बोली--गाँव कब चलोगे! सुखराम कहना कुछ और ही चाहता था; लेकिन

उसने वह न कहकर, यह कहा कि, हाँ-हाँ, गाँव चलेंगे—क्यों नहीं, पिछली मँहगाई का हिसाब हो जाये, बस तब चले चलेंगे···। इतना कह कर उसने अपनी आँखें धुए सी मैली दीवारों पर फेर दी।

'पिछली मँहगाई का हिसाब?' अपने गले हुए स्वर से अपनी अधीरता को व्यक्त कर गया?

सुखराम कुछ सोच रहा था। शायद सोच रहा था कि वह क्यों अपने गाँव, अपनी भूमि अपने मकान की उपेक्षा कर अपनी बुद्धि का आश्रय ले शहर की चहल-पहल में आ ठहरा था। वह जो यह सोचता था कि यह जीवन सतरंगी इन्द्रधनुष है। सो वह उन सात रंगों की समीक्षा करने पर तुला हुआ था, किन्तु जब मँहगाई के हिसाब वाले शब्द दोहरा दिये गये, तब वह रुक गया, उसका ध्यान उचाट हो गया। और एक सामने पड़ी टूटी खाट पर ऐसे एक तरफ झुका बैठ गया, जैसे वह स्वतः ही एक पुरानी तीन टाँगों वाली एक ओर झुकी खाट हो।

एक डिबिया की रोशनी उस अन्धेरे में गहरी साँझ का वातावरण बनाये हुए थी। दो चार बर्तन बीमार स्त्री की खाट के समीप ढुलके पड़े थे। दो एक मैले कपड़े भी एक किनारे पड़े थे; और फर्श पर धूल की अधिक मोटी तह जमी हुई थी। उसीके सामने की टूटी हुई खटिया पर सुखराम सोच में डूबा हुआ था। वह नई बात सोच नहीं रहा था, बस वही पुरानी बात, सीधी सी बात, जिस पर वह सुबह शाम जीवन के बोझ से पलों को इस सोच के जल में भिगोकर और भी भारी कर देता, जब चलता; वह जानता था, उसकी समस्या सोच की कुँजी से खुलेगी; फिर ऐसे सोचता जैसे कोई प्रौढ़ ब्रह्मचारी कर्मकाँडी सूर्य अस्त के बाद किसी गहरे श्लोक की गहराईयों को खोजता है। उसका सीधा सा श्लोक था उसे पैसे चाहिये। पैसे नहीं तो फल चाहिये, उसे ताकत की दवा चाहिये! और यदि यह कुछ भी नहीं वह प्राप्त कर सके, तो उसे कम से कम इस काँखों का

सनक नहीं चाहिये। बस उसे इस शहर में अधिक नहीं, उसके गाँव सा सादा जीवन चाहिये ? और तभी हलकी काँख ने इसे जगा दिया, वह हड़बड़ाकर डट गया आवेश में वह कह गया—नहीं तुम्हें कुछ नहीं हुआ है, यह सब कुछ झूठ है, तुम बीमार नहीं हो ?

घबराये स्वर में वह बोली—क्यों ?

तुम्हारी ये चीजें, भूख की आवाजें हैं; तुम सिर्फ भूखी हो, और सुखराम आवेश से काँप रहा था; किन्तु उसकी आवाज में कसा हुआ विश्वास था; एक अनुभवी डाक्टर का अहम था; और यह बात ऐसे कह रहा था, जैसे यह एक या दो दिन की भूमि पर नहीं उगाई गई हो, यह उसकी वर्षों की व्याख्या का निष्कर्ष है। और, जो कुछ है अक्षरशः सत्य है। उसकी आत्मा ने उसके कानों से कहा—हाँ स्वामी, मैं भूखी हूँ, मेरी हड्डियों में रखा क्या है ? कहाँ मैं खड़ी भी नहीं हो सकती और लेटे लेटे—मेरा सारा शरीर दर्द करता है ? मैं कहती नहीं; लेकिन में बेहद भूखी हूँ, और वह उन भूखी आँखों से स्वामी को इस धुँधले प्रकाश में देखने लगी।

सुखराम को एक रास्ता मिल गया था। उसके ओंठ गीले हो गये आज वह संकोच और विचारों को तलाक देने का निश्चय कर चुका था! उसकी आँखों में उसके हृदय के विचार उतर आये थे। वह बढ़ा, झुका और जैसे ही सीधा होकर रुका। उसके दोनों हाथों में उसकी पत्नी के आखिरी गहने थे, पायजेब का एक जोड़ा···? बीमार औरत नें बुझी हुई आँखों से अपने पति को देखा और एक चमक पल भर के लिये लहर की नाईं वहाँ चली आई···। किन्तु सुखराम मुड़कर दरवाजे को अब पार कर रहा था, उसके पास अब इतना समय ही कहाँ था। वह उसके सूखे बाल उड़ तो नहीं सकते थे, लेकिन गुच्छों यहाँ वहाँ दलक जाते थे, हाँ उसके पास अब इतना समय ही कहाँ था। उस कमरे से निकल कर रास्ते पर पहुँच

चुका था, और लम्बे लम्बे कदम भरता चला जा रहा था। हवा से उसके बाल उड़ तो नहीं सकते थे, लेकिन गुच्छों में यहाँ वहाँ दलक जाते थे, हाँ उसके पाजामे के निकले हुए तार नई नई कोपलों जैसे फरफरा रहे थे।

वह कुछ इतनी जल्दी जल्दी गज गज भर के कदम रखता चल रहा था, कि देखते ही देखते सराफे की मोड़ पर पहुँच गया। यहाँ आकर सुखराम को होश आया, कि वह अकेला नहीं है, रास्ते में आदमियों का ढेर है, जो आ जा रहा है। उसके बेपरवाह 'किसानी-कदम' कुछ सिकुड़ गये। भीड़ भी कमती जा रही थी। अब जब कभी उसका शरीर किसी न किसी से टकरा जाता था। उस टकराहट के साथ ही पायजेब उसके शरीर में कुछ गड़ती, और वह अपने ही आप गुनगुना उठता, नहीं··मैं·· उसे नहीं मरने दूँगा, मैं उसे बेच दूँगा; और दूकानों में लगे बड़े बड़े शीशों के भीतर से निर्लज 'दुलहन' की चमक दमक देख 'मजनू' सा मुस्करा देता, और अनुमान लगाता किसी खास दुकान को खोजने लगा। बाजू में एक साथी दूसरे से कह रहा था अरे यार उस हवलदार ने आज जकड़ ही लिया होता।"

फुसफुसाई आवाज में दूसरे ने पूछा। तब ?

'तब' के साथ ही साथ छूट निकलने का नुस्खा बतला दिया, और दोनों मिलकर हाः हाः कर हँस दिये। सुखराम को उनकी यह हँसी बहुत बुरी मालूम हुई थी। जैसे वे उसी पर हँस रहे हों ? 'ऊँह' करता वह एक दूकान की सीढ़ियों पर ऐसे चढ़ रहा था जैसे कोई नया नौसिखिया युवक पहली बार किसी वेश्या की कोठी पर चढ़ता है। चढ़कर अपने अनुमान से सबसे अधिक भारी शरीर वाले के सामने पहुँचा जिसकी काया बोल रही थी, मैं हूँ मालिक ! उसकी आँखों में कीमती शीशे की चमक थी, सुखराम ने कुरते की जेब का माल धीरे से उसके आगे रख दिया। माल की झलक पर कीमत उसके दिमाग में बस गई थी लेकिन वह

सुखराम के मुँह को ऐसे गौर से देख रहा था जैसे वह चाँदी का है, और उसे उसकी कीमत का अन्दाज लगाता है।

अब सुखराम की आँखें अपने माल पर से उठीं; और मालिक से मिलीं ही थी; उसने कहा; ऊहूँ: चाँदी कुछ खोटी है·····!

लपक कर सुखराम ने उन्हें अपने जेब के हवाले किया; और एक कड़ी दृष्टि उस पर डाल उलटा चल पड़ा।

सेठ··अरे··अबे··ओ··ओ बे··! करता ही रह गया; लेकिन सुखराम उस कोठी के नीचे उतर आया था; उसका मुँह तमतमा गया था; और कोई 'अपशब्द' एक साथ उसके मुँह से निकल आये थे? उसी समय सेठ की दुकान से सुरबई के मुँह से निकले अपशब्दों की नाई कुरूप आदमी मूँछें ऐंठता निकला। और, ऐसे खड़ा हो गया कि सुखराम उसे न देख सके और वह सुखराम के साथ हो।

सुखराम के दिमाग पर यही बात बार बार घूम रही थी; उसने दुहराया ये नकली हैं? गुस्से से उसका शरीर काँपने लगा; उसके जी में आया कि वह लौट जाय; लेकिन उसे फल चाहिये, दवा चाहिये; तब—तब वह गुस्सा ठण्डा करने के लिये उस रास्ते पर बड़बड़ा रहा था; अबे सेठ तेरा पेट नकली है; तेरा जिस्म नकली है; तू··तू और कुछ ठण्डा पड़ता आगे बढ़ गया। बढ़कर एक नई दुकान में चला गया; उसके साथ ही वह कुरूप आदमी भी। उनके सामने सुखराम ने पायजेब बढ़ा दिये। यह उसे नर्म मुलायम नई कपास सा लगा। उसने पायजेबों को उलट-पलट कर देखा और हँस दिया।

सुखराम ने खीजते हुए कहा। और देख भाल लो सेठजी··। उत्तर में वे दुबारा हँस दिये और बोले—बैठो बैठो ना, हवलदार!

सुखराम ने घूमकर देखा कि यह वही कुरूप आदमी है, जो उसके साथ-साथ चल रहा था।

आँखें मिलते ही हवलदार ने कहा—कहाँ रहते हो सरकार ?

सुखराम बिना उस प्रश्न की परवाह किये सेठजी से बातें करने लगा।

उसकी-ऐंठी मूछें जबरदस्ती किसी ने नीचे कर दीं; और उसने कड़े-शब्दों में कहा—मैं कुछ पूछ रहा हूँ। सुखराम ने वैसे ही उत्तर दिया—क्या मेरा जवाब देना जरूरी है ? सुखराम वहाँ से एक कदम आगे बढ़ गया जैसे उसकी देह से सड़ी बदबू आ रही हो। दृढ़ता के साथ सेठजी से बोला—क्या इरादा है ?

इरादे के बाद उत्तर; और सेठजी वह पीछे खड़े कुरूप आदमी की आँखों में टटोलने लगा।

कुरूप आदमी बोला—हमें कुछ भी जवाब नहीं मिलेगा ? सुखराम ने घूमकर कहा—आखिर तुम क्या चाहते हो ? अब उसने सीधे से कहा—मैं तुम्हारा पता चाहता हूँ···। मेरा पता ? सुखराम का दिमाग फिर गरम हो गया। उसने पुनः तीखी आवाज में कहा कि सारे सराफे में सिर्फ मेरा ही पता खोजने की तुम्हें क्या जरूरत पड़ गई थी ? किन्तु यदि बेचारे ने एक बार यदि अपने को अपनी ओर ही देख लिया होता, तो शायद खुद भी यह प्रश्न करने में हिचक जाता। उस चमकती दुनिया में, उस चाँदी की दूकानों में दूसरे आने-जाने वाले चमक रहे थे। और वह एक धुँधले मैले बादल के टुकड़े सा, यहाँ आ पहुँचा था। वह मूँछें ऐंठने वाला मुलायम कपास की नाईं सफेद सेठ से आँखों की भाषा में बातें कर रहा था; और उस लिबास का पता पूछ रहा था। उस लिबास के कारण इतनी हिम्मत से बोल रहा था; जो उसके शरीर से टिका था। जिसका पता और

हो ही क्या सकता था ! जिसका छिपा ही क्या था, जिसे कौन नहीं जानता था ! लेकिन वह उस परिचय को उसी के मुख से सुनना चाहता था, इसमें कुछ सेठजी का भी स्वार्थ था।

लेकिन सुखराम भी अपनी जगह अड़ गया था; और इस टेढ़ी मूछों वाले के दिमाग की गर्मी बढ़ गई। सेठजी की बातें खश की टट्टी का काम दे रहीं थीं। लेकिन वह कह रहा था—तुम्हें चौकी चलना पड़ेगा···।

सुखराम बोला, अच्छा ··! और सेठजी बोले क्यों मुफ्त में भाई तकरार कर रहे हो, लो··लो पैसे लो और अपने घर आराम से रहो···!

सुखराम ने देखा, सेठ के हाथ में चाँदी के रुपये तो थे, लेकिन वे सही कीमत का आठवाँ हिस्सा भी नहीं था, उसने एक कठोर शब्द कहा—क्या···! सेठजी चौंक गये। वे दो चार और उस रकम में मिलाने लगे, सुखराम ने झल्लाई ध्वनि में कहा—रखले अपने रुपये। सुखराम का यह उत्तर महावत के अंकुश सा चुभ गया, बिना उत्तर पायजेबों को उसने जेब के हवाले किया, और खुद ही बोला चलो···।

और यह कुरूप आदमी सकपका गया। वह सेठ जी से आँखों में बात करने लगा, लेकिन सुखराम ने दुबारा रोब से कहा, चलो वह कुछ घबराया, लेकिन कोरी हँसी हँसता अपनी मूछों को ऐंठता चल पड़ा। सेठजी की बदबूदार आवाज उसका पीछा करती ही रही, लेकिन सुखराम दहकते हुए ज्वालामुखी की नाईं ऊपर से खामोश चला जा रहा था, जा रहा था मौन कानून के कोठे पर, शायद इसका उत्तर माँगने, इसका उत्तर चाहने।

कलाकार की आत्मा

अरे रमेश···!

और उसी पल तूलिका पर उभरे हुए चमकदार रंगों के सम्मिश्रण पर से दृष्टि घुमाते हुए रमेश बोला—ओह शेखर···! हँसी का हलका गोलापन सुबह की ओस सा उसके मुख पर जम गया। कुछ रुकते हुए उसने गहरी मीठी आवाज में कहा—देख रे कितना भला दिखता है यह।

भला···! शेखर की खोई सी खोजती आँखें उस भोलेपन को टटोलने के लिये व्याकुल सी उस चित्र पर स्थिर हो गईं। पल भर अपने स्वभाव के विरुद्ध वहाँ टिकी रहीं, किन्तु इसके बाद वे अनायास मुड़कर रमेश के मुख पर ठहर गईं और मुस्कराने लगीं। रमेश तटस्थ सा, शेखर के भीतर चलने वाले इस हो हल्ले से बे सरोकार अपनी कृति की चमक-दमक में खोया निर्निमेष देखता रहा। शेखर के भीतर की भावना पुनः लौटकर अपने स्थिर स्वभाव की गहराई में खो चुकी थी। अब वह अपनी स्वाभाविक गम्भीर तथा सरल मुद्रा से रमेश की नशीली मादक भावुकता का अध्ययन करने लगा।

रमेश ने आज ही अपने इस चित्र को समाप्त किया था। अपने हर चित्र को यह कैनवास पर व्यक्त कर वह ऐसे ही खोया हुआ सा उसे घण्टों देखा करता था। वह सदा स्वप्नों की सुनहरी दुनियाँ में खोया अपनी

कल्पना को जीवन समझता व्यक्त किया करता था। वह इसी नशे में खोया सा कहता गया—निलिमा के आग्रह से मैंने इसे बनाया है? और वह पुनः हँस पड़ा, ऐसे ही हँस पड़ा जैसे उसका अपना प्रथम नवजात शिशु उसे टुकुर टुकुर मुस्कराता हुआ देख रहा हो? बोलता गया तेरी आत्मा तो सदा के लिये सो चुकी है, जरा वातावरण की स्वाभाविकता को तो देख, उसकी आवाज और दबकर भारी पड़ गई, उसमें ऐसी खुरदुराहट पैदा हो गई जैसे कोई कुन्द छुरी की धार खुरदुरे पत्थर पर घिसघिसकर बना रहा हो। आसमान के वक्षस्थल पर कुमकुम के छींटे सी शीसम और अखरोट के सायेदार वृक्षों के मध्य छोटी सी झोपड़ी जैसे सुन्दरता का स्वरूप बनकर झाँक रही है?

शेखर नित्य जब कभी रमेश के विशालकाय स्टूडियो में चला आया करता, तब सदा ऐसी ही बातें सुनता। कभी जबाव में विरोध करता, कभी हँसकर टाल देता, और कभी इधर-उधर कुछ देखता खोजता हाँ·· हूँ··· करके चल देता वह अपने मेले से जीवन से जब तक हटकर सूनी शान्त पगडण्डी पर भी पल दो पल विश्राम लेना चाहता था। रमेश उसके बचपन का स्नेही था; सो उसे कुछ विशेष दिक्कत नहीं होती थी।

इस समय जबकि रमेश अपने खोये हुऐ स्वर में अपनी कल्पना के गीत गा रहा था तब रमेश कुछ हट कर किनारे कैनवास पर चित्रित अर्द्धनग्न नारी के स्वस्थ अंगों को बारीकी से देख रहा था। उसके सीने पर मलमली ओढ़नी को कुछ ऐसे डाल दिया गया था जिससे छन छनकर यौवन की मादक मदिरा पुरुष के पौरुष को ललकार सी उठती थी। शेखर उसके भीतरी कुचक्र को खोजकर मन ही मन मुस्करा रहा था। आज उसे कुछ थोड़ा सा समझ में आ रहा था कि क्योंकर कलाकार भटकाने वाले अन्धकारमय रास्तों का सृजन करता हुआ बेदाग जीवित रहा आता है।

शेखर के नेत्रों में इस बीच जुटाये ज्ञान द्वारा असाधारण चंचलता

आ गई ; उसने मुड़कर रमेश की उन नाजुक लम्बी सुन्दर उंगलियों को देखा जो अब भी कुची सम्हाले कुलबुला सी रही थीं। उस कुलबुलाहट में शेखर ने कुत्ते के पिल्लों की कूँ··· कूँ··· का मुरझाया हुआ रुदन पाया जो निष्प्राण कुतिया के स्तनों से लिपटा शोर मचाये जा रहा हो।

शेखर को लगा कि वह कुछ कह दे, तभी उस कमरे मे उसके समीप रक्खे फोन की घन्टी टनटना उठी। लापरवाही से शेखर ने रिसीवर उठा लिया, छोटा सा 'जी' उसके मुँह से निकलकर दूर बहुत दूर किसी के कानों में झंकृत होकर खो गया।

रमेश ने तब तक समीप पहुँचकर रिसीवर अपने कानों में लगा लिया। वह हँसी में जैसे गा उठा,··हूँ··हूँ···बस आकर देख जाइये ! हाँ···हाँ···चली आइये रिसीवर पूर्व स्थान में रख दिया गया। अपनी प्रसन्नता को शायद भुलावे में डालने के लिये उसने तिपाई पर रक्खे अंगूर के दाने मुँह में टपका लिये।

दक्षिण की खिड़की से पहाड़ी बयार छन छनकर आ रही थी। रमेश के लम्बे लम्बे केश झूमने लगे। शेखर अपने बचपन के साथी को आज समझ सा रहा था। पहले कभी वह रमेश को समझाया करता, गर्म बहस छेड़ता, बिगड़ता और बाद में उसका कोई प्रभाव देख उसे निकम्मा बेकार इत्यादि कहकर चला जाता। फिर उसने यह सब कुछ बन्द कर दिया और रमेश को अपनी ही राह पर छोड़ दिया। इसमें वह रमेश को कायर ही समझता आया, किन्तु आज इस समय अपने मित्र की अपने भीतर गढ़ी परिभाषा फर्श पर टूटे हुए शीशे की नाईं चटककर रह गई। उसे सबसे हटकर रमेश कुछ नये ही स्वरूप में उसे दिखाई देने लगा। उसका स्वरूप किसी अमीर की लाश सा दिखलाई देता रहा जिसे बहुमूल्य मसालों के द्वारा सहेजकर रक्खा गया हो। यहाँ तक कि शेखर को कोई पीड़ा नहीं हुई, किन्तु इसके आगे के भाव ने उसके प्रशस्त ललाट पर चिन्ता की

धूमिल रेखाएँ अंकित कर दीं जब उसे लगा कि यह सहेजी लाश जीवन को, जीवन की स्फूर्ति को, चेतना को, छलकर अपनी ओर आकृष्ट कर रही है...! और शेखर हतप्रभ सा पीड़ित दृष्टि से अपने बचपन के स्नेही की ओर देखने लगा।

रमेश की पीड़ित स्वाँस में से होती हुई छोटी सी ऊँसांस निकल पड़ी।

तभी रमेश कह रहा था कुछ वर्ष पूर्व झील में सैर करते समय नीलिमा ने इस झोपड़ी का फोटोग्राफ खींचा था। और आजकल उनके भीतर काश्मीर की वह मधुर स्मृति द्वारा अंगड़ाई ले उठी, उसी के स्मृति स्वरूप एक बड़ी रकम पर वे इसे तैयार करा रहीं हैं। ''अरे तू तो जानता ही है कि पैसे तो उनके लिये पगडण्डी के कंकर ही तो हैं! यहाँ शेखर से मौन नहीं रहा गया उसे लगा लाश अपनी कुरूपता लेकर प्रगट हो जाय, ताकि यह अधिक छलकर जीवन के रास्तों को रोके न रह सके बड़ी अद्भुत शान्ति के साथ धीमे स्वर में शेखर बोला, कलाकार झोपड़ियों को इस देश में क्या कमी, खैर, किन्तु उसे महलों की तरह सजाकर झोपड़ी की संज्ञा देना कहाँ की कला है।

शेखर के भीतर की समस्त गम्भीरता उसके तपे हुए कठोर मुख पर ठण्ड की बर्फ की नाईं जमकर सख्त पड़ गई। उसके सूखे हुए बाल बिखर कर पूस की नाईं फैल गये। कौतूहल से उसका आधा मुख झोपड़ी के तंग दरवाजों सा खुला रह गया। उसके नेत्र आसपास की खिड़कियों से दिखलाई देने लगे वह स्वतः एक पूस की झोपड़ी सा स्थिर दिखने लगा।

रमेश अपनी सदा सम्पन्न हँसी को बुला, हः हः हः करता इस कठोर सत्य की परिधि के बाहर भाग जाने की चेष्टा करने लगा। वह सदा अपने

को कलाकार समझता रहा सो आज भी समझना चाहता था। उसे आम लोगों से क्या लेना-देना था। उसकी अपनी दुनिया थी। शेखर की इस चोट ने आगे होने वाले प्रहारों से बचने के लिये मजबूर सा किया। उसे लगा, उसे एकान्त चाहिये, शान्ति चाहिये, सम्पन्नता चाहिये; तभी उसकी कल्पना और भावना उसके भीतर पनपती रहेंगी। अपने भीतर की अशान्ति को रोकने के लिये वह कह उठा पागल मत बन शेखर, क्यों दुनिया की चिन्ता को अपना कर बरबाद हो रहा है।

रमेश इसका उत्तर नहीं चाहता था। वह इस जटिल समस्या को और भी बढ़कर भीतर के हल्ले को शह नहीं देना चाहता था। इसलिये वह पुनः बिना पहले प्रश्न का उत्तर पाये बोल उठा, अपने देश की धूल कंकर से भरी झोपड़ियों में न यौवन है, न प्राण···! उन्हें अपना विषय ही कैसे बनाया जा सकता है!

शेखर ने कहा, तब सुन्दरता ही कला की पूर्णता है!

हाँ··· हाँ··· निश्चित यही बात है!

शेखर के भीतर का वाक्य मुँह तक आया; पागल, तब तू काहे का कलाकार है! शेखर ने उसे वापस कर दिया।

तभी घरघराती कार पोर्च में एक दचके के साथ रुकी। रमेश शेखर को वहीं छोड़ता खट··· खट··· करता कमरे से बाहर हो गया।

जब लौटा तब उसके साथ नीलिमा थी। उसकी वेश-भूषा और बनाव शृंगार में रमेश की कल्पना के साथ आश्चर्यजनक समानता थी। शेखर अपनी इस तुलना के भीतर ही भीतर मुस्करा उठा। वह नीलिमा के जिस्म से उठने वाली सुगन्धियों को लम्बी सांसों में पीता, उसे देखता रहा।

रेशम की मुखाकृति पर अद्भुत् दीवानगी छाई हुई थी। वह कमरे को 'बेदिंग-पूल' समझ रहा था, उसके पग ऐसे पड़ रहे थे जैसे वह चलने की अपेक्षा पैर रहा हो।

शेखर कैनवास पर चित्रित अर्ध-नग्न-नारी के चित्र के समीप खड़ा सिगरेट के कश खींचता रहा।

नीलिमा के चंचल नयन उस रंगों की दुनिया में पहुँचकर चकाचौंध से नृत्य करने लगे। उसकी स्वांसें लम्बी पड़ गईं, और सुन्दर उरोजों में नशीला तनाव आ गया। उसके मुख से प्रसंशा में भरे मीठे-मीठे शब्द इठलाते झरने के पानी से चूने लगे।

शेखर ने जिस 'सुन्दर लाश' को कुछ घन्टे पहले पहचाना था, इसके बाद ही जिस भय ने उसके हृदय में डरावनी आशंका पैदा कर दी थी, उसका स्पष्ट प्रभाव वह अपनी आंखों दर्शक की भांति देखता रहा।

रमेश और नीलिमा तो भूल ही चुके थे कि कमरे में तीसरा और कोई भी प्राणी है। यदि धोके में नीलिमा की दृष्टि शेखर पर पड़ी भी होगी तो उसे यही लगा होगा कि यह भी एक 'कैनवास' है ! रमेश तो स्वयं को भूल बैठा था।

नीलिमा एकटक चित्र को देखती बोल उठी—कलाकार तुम्हारा यह चित्र काश्मीर की वो मधुर रात की याद दिला रहा है। ओफ, और नीलिमा की आँखें झप सी गईं। और रमेश को देख बोल पड़ी, काश तुम भी होते कलाकार, कल का गहरा नीला पानी, उसकी लहरों पर खेलता हुआ, बजरा, लम्बे लम्बे साये; बाँसुरी की अलाप सी मीठी वायु और.....कुछ बढ़कर स्वतः को भूलते हुए रमेश ने कहा, और क्या नीलिमा.....!

शेखर ने लाश के प्रभाव का अन्तिम रूप नहीं देखना चाहा। उसे ऐसी पीड़ा सी हुई कि जैसे जीवन की स्वस्थ स्वासों को मृत्यु के बर्फीले हाथ दबोच रहे हैं। वह कह उठा, नहीं, वह यह कदापि नहीं दोहेगा···! और तभी कुछ और बढ़कर जब दुबारा रमेश ने दोहराया, और क्या नीलिमा ··!

तब सख्त आवाज में शेखर ने कहा, दूर शीशम की एक झोपड़ी...!

दोनों चौंक गये। घबराये, किन्तु झट सधे हुए शराबियों की नाईं लड़खड़ाकर सम्हल गये। शेखर अपनी तीव्र दृष्टि से दोनों को देखता रहा। सभी परिवर्तनों को पढ़ता रहा, साथ ही मन ही मुस्कराता रहा।

नीलिमा घबराई सी बोल उठी, ओह देर हो गई चलूँ...!

रमेश ने कहा; अच्छा...हाँ...नीलिमा के पीछे रमेश उस चित्र को ले चल दिया। धर्र से कार बढ़ गई। शेखर उस विशालकाय स्टूडियों में अकेला बच गया।

उसने सभी स्थूल भड़कीले चित्रों को देखा, उसके भीतर से स्वर उठा, इस सुन्दर कफन को नष्ट कर दो !

कार भागती चली गई, शेखर ने एक एक कर इस विशालकाय स्टूडियो में सभी चित्रों को क्रम से नष्ट करना आरम्भ कर दिया।

हर चित्र टूट कर, नष्ट होता हुआ, भटकती आवाज से कह उठता, रमेश अब समझ जायेगा, अब समझ जायेगा, और शेखर दूने वेग के साथ नये कैनवास की ओर बढ़ता। हर टूटे हुए चित्र को देख शेखर को बड़ा संतोष हो रहा था।

दूर तेजी से अब भी कार शायद भागी चली जा रही थी। शेखर कह उठा, अब इस स्टूडियो से कोई कार न जायेगी।

अब तक उसने लगे हुए सारे चित्रों को नष्ट कर दिया। उसका मुख प्रसन्नता से खिलखिला उठा, शेखर अपने ही तहि कह उठा, अब कलाकार जाग उठेगा, अब वह अपनी छलता से दूसरों को गुमराह नहीं कर सकेगा।

उसने उस विशालकाय स्टूडियो में एक और दृष्टि डाली, सारे चमकदार रंगों से सजे चित्र नष्ट हो गये थे। इसके साथ ही उनकी बनावटी सुन्दरता भी नष्ट हो चुकी थी। लाश अपने यथार्थ रूप में प्रगट हो गई थी।

शेखर का हृदय भी डर गया। और वह वहां से अकेला चल दिया। वह प्रसन्न था, उसे लग रहा था कि कलाकार की आत्मा आज जागेगी। और वह आगे बढ़ गया।

जलेबी

धीरे-धीरे पाँच मिनट होने को आये गाड़ी को रुके, उतरने-चढ़ने वालों की भगदड़ नहीं के बराबर हो चुकी थी। मुसाफिर आराम से हर डब्बे में मुंह दे देकर जगह को टटोलते घूम रहे थे। ऐंजिन, गाड़ी को छोड़ अपनी खूराक लेने जो गया, सो बस गया ही था पान चाय वालों की आवाज़ें कुछ सधी, कुछ लचकती, प्लेटफार्म के करीब करीब एक कोने से दूसरे कोने तक यूँ चल फिर रही थीं, जैसे प्लेटफार्म पर सदा घूमने वाला अल्हड़ युवक। एक आधी लाल पगड़ी लपेटे हुए मजदूर, यह समझते हुए भी कि कौन बच रहा होगा अब गाड़ी में, डिब्बे डिब्बे की खिड़कियों के सामने से होता.....कुली.....कुली...खुद की स्थिति जताता बढ़ रहा था। ढली साँझ थी, सरपट मैदानों की ओर से आने वाली वायु यात्रियों की आँखों पर अपना आंचल फैला, कुछ ऐसा बना रही थी, जैसे चुलबुला बालक स्कूल से बचने के लिये अपनी माँ को, यह कहकर हाय मेरा सर...! लेकिन फीरोज़ की पलकें नीचे पुतलियों पर ढलक सी आई थीं और वह खिड़की की बाजू पर लगी तख्ती पर अपना सर दिए, मुँह में जलती हुई सिगरेट लगाये बैठा हुआ था। सिगरेट के मुख पर की ललामी राख का भुरका ओढ़े, नहीं सी लग रही थी। ठीक उसकी नाक के सीध में, सेठजी, सरदार जी के पूरे पाँच पसेरी के हाथ को, अपने कन्धे पर से धीरे-धीरे उसका मुँह देखते हुए हटा रहे थे, लेकिन सरदार जी तो इतने बेखबर थे कि जैसे उन्होंने पूरी पाँच बोतलें गले के नीचे उतार ली हैं।

दरवाजे पर एक बूढ़े-से अन्धे आदमी ने लाठी ठोकते-ठोकते भर-भराई हुई आवाज़ में कहा, 'भगवान ही मालिक है...!' हँस पड़ी लड़की जाने क्यों कुछ अधिक तेजी से हँसती हुई बोली, 'जे रहा पाँवदान.....!' अपना वही हाथ जो रूखे-रूखे सिमटे बालों में गुथा था, निकालते हुए बूढ़े को सहारा देने लगी! दूसरे हाथ में उसने बूढ़े की लठिया ले ली, पाँवदान की सीमा लाँघकर, वे डब्बे में पहुँच पाये ही थे कि अब तक सम्हल चुके सेठजी के मुख पर 'सेठिया' भाव झट उतर आया, बोले वे हकलाते से 'ऐ..ऐ...यहाँ जगह नहीं है...!'

ऊँघते-ऊँघते सम्हलकर सरदार जी बोले 'हूँ।' पर लड़की ने ऐसी दृष्टि से उस ओर देखा, मानो वह आवाज लगा लगा कर फेरी करने वाला आदमी हो, बूढ़े के समीप फिर घूमकर; लाठी रखते हुए, नजरें घुमा, पल ही भर में डब्बे को पढ़ती सी, जरा-सी नाक सिकोड़, मुस्कराती हुई, बूढ़े से बोली, 'काम बन ही जायगा बाबा।

सेठ जी का भरा हुआ मुँह बुद-बुदा रहा था, गालों का माँस चढ़ता हुआ, आँखों को ढँक लेना चाह रहा था। सम्हल खड़ी हुई लड़की की उड़ती-उड़ती आँखें सेठ जी पर पहुँच ठप हो गईं। हँसी की सुरमाई रेखा वहाँ पड़ी हुई थी, काली-काली पुतलियाँ छमछम करती जैसे नाच सी रही थीं। खिल-खिलाकर वह रुकी, और लापरवाही से उस बुरी तरह बिगड़े हुए सेठ जी के मुख को देखती बोली—हम आपके बगल में कहाँ बैठ रहे हैं सेठ जी! और घूमकर उसने बाहरी डंडा ही पकड़ा था कि कहो-कहो से डब्बा भर गया! सरदार जी तो यूँ सतर्क हो गये थे, जैसे किसी ने उनकी दाढ़ी का एक बाल नोच दिया हो, सिगरेट पर थमी राख, फीरोज के पेण्ट पर बिखर गई, वैसी ही जैसे उसका ध्यान! उसकी आँखें खिड़की की राह जो बाहर पड़ीं, तो उसने उसको पाया, जिसे सेठजी कह रहे थे दोहरा-दोहरा कर, हरामजादी,···सुअर की बच्ची···!

डब्बे के तनिक आगे किनारे की ओर वह खड़ी थी। अभी-अभी बीते पलों को भूली-सी, उसके दायें गाल पर नीचे की तरफ एक खरोंच-सी पड़ गई थी। वहीं पर उंगली धरे, धीरे-धीरे सहलाती, बहुत ही आगे जो अधिक दूरी पर था, देख रही थी। बचपने के अन्तिम पद-चिह्न उसकी काया पर विराजमान थे। मिट्टी-सा लहँगा, गली हुई बाड़ी की ओट से उसकी झाँकी मिल रही थी। रङ्ग साँझ से कुछ साफ था, कद मुट्ठी ही भर था, लेकिन नाक बहुत पैनी थी उमर, कल नहीं तो, उसने जैसे आज ग्यारहवाँ वर्ष समाप्त किया था। एक ही सीध में देखते-देखते वह उकता सी गई, मुँह में भरी हुई साँस, उसने एक धार में छोड़ना आरम्भ कर दिया।

तब ही अन्दर बैठा बूढ़ा, धीरे-धीरे खँजड़ी पर हाथ फेरता-फेरता कबीर की कोई साखी गुनगुना उठा, उसके सामने बैठे बंगाली बाबू मुँह पर से पत्रिका हटाकर उस अन्धे पर आँखों की राह रोब जमाने लगे। पैनी आँखों से वे कितनी ही देर देखते रहे, लेकिन"···तू क्या राँधे मोय···!" की उठती गई ध्वनि जब और भी ऊपर उठती गई, तब कुछ तिरछा देखते हुए दबी हुई आवाज में बोले—"गवाँर, हिन्दुस्थान के हर गज पर मौजूद हैं!"

'एँ···जी···' आगे बैठे हुए सरदार जी ने कुछ इस लहजे में कहा, जैसे यह उन्हीं की ओर संकेत था?

फीरोज को मुड़ी हुई आँखों में हँसी की खुशी भर गई, वह मुँह को खिड़की की राह लाकर, पुनः उस लड़की को देखने लगा?

लड़की अब जोर-जोर से हँस रही थी। किनारे से एक मैला सा लड़का निकला। उसकी आँखों पर रूखे से बाल उतर रहे थे, न दाढ़ी, न मूँछ, न जल्दी ही ऊगने की संभावना ही थी। मुँह बनाते हुए वह बोला, 'जलेबी? जे दिवाली कैसी···' और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हँसता

बढ़ता चला गया। जलेबी ने भी केवल पल भर तक उसे देखा, स्थिर सी, एक झटके से दूसरी ओर मुड़ गई, जैसे यही उसका सबसे बड़ा उत्तर था। एक उसी 'जात' का लड़का, एक पूरी और दूसरी आधी बाजू की कमीज पहने, उसके पीछे से निकलते-निकलते रुका, रुककर उसने चट से एक चपत जमा दी, उसे और बढ़ गया। अनदेखे ही उस ओर ? हँसी में जलेबी का मुख पुर गया, साथ ही एक अपशब्द उसके मुख से निकल पड़ा, और ओंठ वैसे ही खुले रह गए! उसकी दृष्टि वहाँ से भी मुड़ गई, उसमें एक उतावलेपन का नशा चढ़ आया, कुछ पाने की आतुरता वहाँ दीप्त होने लगी।

क्यों जलेबी···!

बिना उस ओर मुड़े, उसने उच्चारित शब्द कुछ ऐसे ढंग से दोहराए कि वह हँसकर रह गया। अपनी टुड्डी खुजाते हुए, हकलाते हुए फिर बोला, आज दौरे पर नहीं जा रही जलेबी ?

'नहीं···?' अब मुड़कर जलेबी बोली, 'आज तेरी चपटी नाक सुधारने रुक गई हूँ ?'

इतने ही में चायवाला भी अपनी दूकान ले वहीं आ रुका, पूछ बैठा, 'चाय पियेगी··?'

'हाँ···हाँ···पिला···।' जलेबी ने लापरवाही के साथ कहा। फिर जरा नाक सिकोड़ते हुए बोली—क्यों मुऐ गोरे सभी मर गए···? और गाड़ी की ओर देखने लगी।

'अरे···?

चायवाले की हँसती हुई आँखों को देखती जलेबी बोलती गई, 'समूची गाड़ी में एक बन्दर भी जो हो सो कहना ?' कुछ रोष के साथ उसने अपनी दृष्टि पुनः खड़ी गाड़ी पर मोड़ी थी, और हँसती-सी बोली—'इन दिनों पिछले साल भर-भर गाड़ी आते रहे।'

हाँ; चायवाले ने हाथ की प्याली को बाल्टी में छोड़ते हुए कहा, तू ठीक कहती है, अब चाय कहाँ बिकती है···! और उसने एक सरसरी दृष्टि गाड़ी पर ऐसी डाली, गोया ये भी कोई आदमी हैं, जिन्हें चाय भी पीने की आदत नहीं !

डिब्बे से फीरोज ने आवाज दी एक चाय लाना भाई !

'हाँ बाबू' कहकर, झट बालटी से कप निकाल प्याली भर हकले को देकर बोला, दे आ बे···!

जलेबी बोली, आज चाय नहीं पिलाएगा ! अरे पहले ये बन्दर मग्घा-मग्घा भर चाय उलेड़ जाते रहे !

हाँ···हाँ···चाय वाले ने कहा !

जरा गम्भीरता लाती बोली—उनके राज में पैसन की लूट रही···। पर · एक हवलदार को यहीं आते देख चुप हो गई। ऐंजिन भी तब ही घरर·····वापस आ रहा था···। वह यूँ ही उधर मुड़ गई।

किनारे से निकलते हुए हवलदार बोला क्यों जलेबी···?

जलेबी हंसकर चुप रह गई। झट वह जरा आगे निकल गया तो बोली बड़ा हरामी है···।

चायवाला भी उस ओर देखते देखते, यह समझ गया कि अब आवाज उसे क्या छुएगी, तब उसने मुण्डी हिलाकर 'हाँ' की सूचना दी...।

हकले ने खाली प्याली लाकर कहा—बड़ी कमाई हो रही है जलेबी आजकल...! और मुँह बाये देखने लगा। चायवाले पर दृष्टि रोके, व हकले की ओर फिरती बोली, 'कमाई !' और कुछ ऐसे हँसी कि तू नकटा है सो है, साथ ही नालायक भी है ! हँसते-हँसते उसने अपने टेंट में खुसे सभी पैसे हथेली पर उलट लिये ! बोली, ये रही बारह घण्टे की कमाई ! तांबे के गोल-गोल छेददार पैसे थे, दो...एक अधन्ने,...चायवाला बोला, बस कुल अठारह पैसे !

हाँ...हाँ अपने गले की कसम और उसकी आँखों में एक तरलता उतर आई, हकला जोर से हँस पड़ा, वही मैला सा लड़का दूसरी ओर से लौट रहा था, हकले ने उसे देखते-देखते कहा, देख बे जलेबी की कमाई...!

धत कहकर जलेबी रह गई, साथ ही स्टेशन से टन-टन घण्टी बजने लगी ! मैले लड़के ने चपत मारने के लिये फिर हाथ बढ़ाया लेकिन जलेबी सम्हल चुकी थी। बोला आगे बढ़ते हुए, 'अभी क्या कमाई हो रही है, दो साल बाद देखना ! और सीधा ही देखता बढ़ गया।,

चायवाला इस लय में मुस्कराया जैसे वह इस बजे हुए साज से सहमत था।

जलेबी अल्हड़ जैसी डगमगाई, न उसने कभी जीवन के पीछे मुड़कर देखा था, न आगे ही झाँकने का कष्ट किया था। जो सन्मुख था, बस वही उसके सन्मुख पूर्ण था। झट कूकती हुई गाड़ी की ओर भागी। बेजाने से एक शब्द दो बार उसके मुख से निकल गया...हाँ...हाँ...! बगल से लौटते हुए एक कुली ने कहा, अब न लौटना...!

वह गाड़ी के पाँवदान पर लटक गई, दूसरे हाथ का अँगूठा और फिर जीभ निकालकर उसे चिढ़ाने लगी, प्लेटफार्म पर लगी बत्तियों के प्रकाश में वह वैसे ही लापरवाह-सी खड़ी रही, और फिर डब्बे के अन्दर घुस बरर...बरर...उठती ध्वनि के मध्य, अन्धे के सुर में सुर मिला गा उठी— वही कबीर की कड़ी। बाहरी दुनिया पर कालिमा खूब गाढ़ी चढ़ी हुई थी, और वह उसे चीरती भागी जा रही थी। फीरोज की आँखें हँसती-हँसती अब जलने लगी थीं, एक हाथ जेब में डाल वह टूटे हुये पैसे बटोर रहा था, पर जलेबी भजन की कड़ियाँ दुहराने में ऐसी मग्न थी, जैसे वह घण्टे भर से... न दिन भर से...यही कर रही हो...! फीरोज की आँखें वहीं देख रही थीं, डब्बे में एक खामोशी थी, केवल उसकी आवाज बढ़े के साथ उठती थी, बैठती, उठती थी...ट्रेन भागी जा रही थी...साथ ही जलेबी का स्वर भी।

बहुत अच्छा आदमी

कम्पोजीटरी और कम्पाउण्डरी के पेशे में जुटे व्यक्ति भले ही अपने कार्य को एक कला मान संतोष कर लें किन्तु आज उसे जनसाधारण कला मानने के लिये बिलकुल तैयार नहीं है। बीमार रोगमुक्त होकर डाक्टर की तारीफ के पुल बाँधता दवाई घोटने वाले को बेजानदार मशीन सा व्यर्थ समझता है, ठीक उसी तरह पाठक लेख के श्रेय का एक अंश भी बेचारे कम्पोजीटर को देने की कल्पना भी नहीं करता। इसीलिये शीशे के टाइपों को लगातार पैंतीस वर्षों से सिलसिलेवार जमाने के बाद रूपलाल आज भी दुनिया की दृष्टि में एक घिसे हुए टाइप की तरह उपेक्षित सा है। लोहे की काली ठोस कलों के मध्य कीट से फर्श पर जमकर बैठे बैठे रूपलाल ने जीवन के अद्‌भुद रोमाँचकारी अनुभव प्राप्त किये हैं। उसके हृदय में फिर भी यह अंकुर कभी न फूट सका कि दिल में उठने वाली बातों को वह शीशे के टाईपों द्वारा कागज पर व्यक्त कर दे।

रूपलाल ने इस प्रकार के मोह को केवल एक आडम्बर मात्र समझा, आडम्बर नहीं तो व्यर्थ अवश्य समझता रहा; अन्यथा उसकी इस भावना को जीवन मिलना कम से कम रूपलाल के लिये असम्भव बात कदापि नहीं थी! वह अपने प्रेस का कम्पोजीटर मात्र नहीं था, उन सारे काम करने वालों का मुखिया था, इससे भी बढ़कर मालिक के बाद उसी का उस प्रेस में सबसे बड़ा ओहदा था। इसके बाद भी रूपलाल अपने चहरे और

स्वभाव से जैसा ठण्डा और शान्त था वैसा ही भीतर से भी ठण्डा था। वह अपने समस्त अनुभवों के बावजूद भी अपना मूल्य पहचान गया था। इन पैंतीस वर्षों के बीच कितनी बार नये टाईप आये, घिस गये, जब बेकाम हो गये तब उनका स्थान नये टाइपों ने ले लिया। इसी प्रकार उन टाईपों के बीच काम करने वालों का मूल्य भी वह पहचानता था। वह स्वयं किसी काम करते करते घिसे हुये आदमी के स्थान पर मुस्तैद था, और अपने भीतर की शक्तियों के घिसते चलने से परिचित भी था। इसलिये वह अधिक सोचना या करना व्यर्थ समझता था।

रूपलाल उस जमाने में इस प्रेस में आया था जब यह प्रेस आज की नाई मेन रोड पर नहीं था। उसका इतना लम्बा चौड़ा कारोबार भी नहीं था। तब तो शायद शहर के सारे प्रेसों का कारोबार भी इतना नहीं था जितना इस प्रेस का है। मेनरोड से बहुत हटकर गल्ले बाजार की सकरी गली में तब इसका सारा कारोबार था। कुल मिलाकर एक कमरे का प्रेस था जिसमें मशीन और दफ्तर दोनों थे। वैसे ही कमरे में अँधेरा रहता, रास्तों की गर्द इकट्ठा होती फर्श पर कीट की तह जमी होती और दीवारों पर मक्खी मारते आलसी काम करने वालों की पान की पीकें सूखती रहतीं। उन दिनों रूपलाल की मसें भींग रही थीं; उम्र कच्ची थी, पढ़ाई कुछ पैसों और अधिक लापरवाही की वजह से छूट चुकी थी। तब दिन और रात के विशेष अन्तर को रूपलाल समझने की आवश्यकता नहीं समझता था। मोहल्ले की हमजोली के मध्य आवारागर्दी करना शीटी बजाते फिरना केवल एकमात्र ध्येय बन गया था तब उसके पिता की सिफारिश पर मोहल्ले के बौने सज्जन ने उसे अपने पास काम पर लगा लिया था तब संतोष हुआ कि बेटा जेल जाने से बचा, राह पर लगा। मां ने परोसते वक्त कुछ अधिक सब्जी देना आरम्भ कर दिया। संतोष के साथ फूली-फूली मोहल्ले में ढिंढोरा सा पीट दिया कि अब उसका बेटा कमाऊ पूत बन गया है। मुहल्ले के दूसरे लड़कों के समान आवारागर्दी नहीं करता।

रूपलाल के घर में बौने की इज्जत बढ़ गई बौने ने अपनी शिफारिश से रूपलाल की किश्ती राह पर लगा दी। रूपलाल को काम के बदले में दो रुपये माहवार तनख्वाह प्राप्त होने लगी। वैसे वह और ही युग था, तब गल्ले और कपड़े का भाव परियों की कहानियों सा आज के युग के लिये आश्चर्यजनक ज्ञात होता है। उन्हीं दो रुपयों के कारण रूपलाल की आबरू घर और बाहर दूनी हो गई थी।' रूपलाल के आवारा साथी कनखियों से मुस्कराते हुए पूछ लेते थे; क्यों रूपलाल काम पर जा रहा है? रूपलाल कीट से भरे थिगड़े लगे पेन्ट की जेब से बीड़ी निकालता शान से उत्तर देता; हाँ यार, कित्ता बजा है?

रूपलाल के दोस्त तब उससे बीड़ी के लिये चिरौरी करते और वह कट्टे से बीड़ियाँ निकाल दोस्तों को अजीब गर्व से बाँटता और यह कहकर बढ़ जाता; चलूं वरना मशीन रुकी रहेगी। सब कहते अच्छा शाम को मिलेंगे। रूपलाल की दी हुई बीड़ियों का धुआँ रास्ते पर फैल जाता। रूपलाल बढ़ जाता।

रूपलाल प्रेस पहुँचता। वैसे डींग हाँकने को तो वह कहता फिरता कि उसके बिना मशीन बन्द रहेगी। किन्तु उसके क्या उस प्रेस के सारे कर्मचारियों के पहुँचने न पहुँचने का भी कोई विशेष प्रभाव उन जंग खाई हुई मशीनों पर न पड़ता। दिन भर प्रेस में मनहूसियत सी छाई रहती। मुश्किल से घन्टे डेढ़ घन्टे मशीनें चरमराती चलतीं; वर्ना बाकी समय बन्द ही रहतीं। ठण्डा समय सो ठण्डा कारोबार। रूपलाल को दिन भर बिगार करनी पड़ती।

मालिक क्या बला होती है, तब रूपलाल जानता ही नहीं था। अधिकतर कर्मचारियों को मालिक की कोई विशेष परवाह नहीं थी। मालिक था तो जवान किन्तु चेहरा प्रेस की जंग खाई मशीनों सा उदास था। बीमारों की तरह टीन की कुर्सी पर दिन भर में दो एक बार घन्टे आध घन्टे

बैठता और चला जाता। स्वर भी करुण सा जैसे याचना कर रहा हो। कपड़े भी ऊट पटाँग हुआ करते थे। प्रेस के दो एक मुच्छाड़िये कर्मचारी उसकी उपस्थिति में भी अबे तबे से भरी बातें ऊँचे स्वर में करते।

बेचारा मालिक मुँह बनाये दूसरी ओर घूमकर बैठ जाता या उठ कर चल देता। जब ज्यादह झल्ला उठता, तब मुरझाये स्वर में कोई उपदेश दे देता।

उस समय बौने को गुस्सा आ जाता, वह ऊची फौलादी आवाज में उन मुच्छाड़ियों को खूब फटकारता।

वे चुप तो हो रहते किन्तु कनखियों में इशारे करते मुस्कारते रहते।

रूपलाल की बौने के गुस्से को देख सिट्टी बध जाती। हर बार बौना अन्त में रूपलाल पर अपना गुस्सा उतारता।...अबे हरामी...तू काम करने आता है या इन्हें चाय पिलाने और पान लाने। याद रखना अबकी कभी होटल वाले ने किसी की शिकायत की तो तेरी पगार से पैसे चुकता करवाऊँगा। चल इधर; ये नहीं कि कुछ सीख ले।

पिटा सा रूपलाल मन ही मन गालियाँ सी बकता बौने के पास से सरक आता, काम करने लगता। कहता अच्छा चाचा आगे से किसी की उधारी सौदा न लाऊँगा?

बौना भड़क उठता, न उधारी, न नगदी।

हाँ...हाँ...मुण्डी हिला हिलाकर रूपलाल बौने को ऐसे देखता जैसे कह रहा हो, हाँ यह केवल कहने मात्र की भूल चूक है। वह बिलकुल ऐसा ही करेगा।

बौने का यह गुस्सा देख बेचारा मालिक धीरे से उठकर चल देता। इस रोब के बाद वातावरण शान्त हो जाता और मालिक यह अनुभव सा

करता कि कोई नौकर ताव में आकर तनख्वाह न माँग बैठे। काम जैसा सुस्त था, उसी के अनुपात में धीरे से वेतन भी मिलता था।

रूपलाल को अपने वेतन की विशेष चिन्ता भी न रहती। घर पर डटकर खाता। जेब खर्च भी साथ लगा था, सो दिन भर की बिगार में चल जाता। मांगने की हिम्मत न पड़ती। बौने का गुस्सा नेत्रों के सन्मुख झलक आता, ऊपर से घर वाले भी कहते काम किये जा, सीख जायेगा तो राह लग जायेगा। मा कहती, हाँ बेटा, वर्ना बिरादरी में कोई लड़की न देगा। रूपलाल क्या कर सकता था। मन मारकर बौने के पास बैठा बैठा काम सीखा करता। सो भी काम सीखने वाले के आगे परास्त हो बैठता है। रूपलाल भी असाधारण गति से काम सीखता चला। रूपलाल का हौसला भी बढ़ा, दो एक सिक्के भी वेतन के नाम बढ़ गये। बौने की आँखें रूपलाल का काम देख मुस्कराती अनुभव करने लगीं, यह शैतान बालक हुनर को अपनी चेरी बनाकर छोड़ेगा।

मालिक भी अधिक नहीं तो तारीफ के दो चार शब्द रूपलाल के नाम के आगे जोड़ने लगे। अधिक तारीफ से रूपलाल का नुकसान जो होता सो होता किन्तु मालिक को अपनी क्षति की अधिक संभावना थी।

एक दिन प्रेस की काया पलट हो गई। मालिक के ससुर साहेब बंबई से यहाँ क्या पहुँचे उन्होंने प्रेस के कानून, तरीके सभी बदल दिये। चौबीस घन्टे के भीतर उन्होंने एक पहुँचे हुए ज्योतिषी की नाईं कारोबार का भूत और भविष्य पढ़ लिया। पुराने सारे नौकरों की छुट्टी कर दी। नये नौकरों की भर्ती की गई। वेतन, कार्य के घन्टे, छुट्टियां इत्यादि निर्धारित कर दी गईं, नया सामान आ गया। मालिक की उदास सूरत पर हलकी आशा की ज्योति दीप्ति हो उठी। इन परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप कार्य में प्रगति के लक्षण स्पष्टतः दिखलाई देने लगे।

* * *

धीरे-धीरे काम बढ़ने लगा। मालिक के साथ ससुर साहेब दफ्तर में जमने लगे। बौने का पद बढ़ गया, वेतन भी बढ़ गया। सारे कर्मचारी उसके अधीन कार्य करने लगे। रूपलाल बौने की सहायता करने लगा। उसे भी मुट्ठीभर रुपये प्राप्त होने लगे माँ के कथनानुसार बिरादरी वालों ने उसे लड़की भी दे दी। रूपलाल सयाना हो गया।

मालिक के ससुर साहेब उस दिन शहर छोड़ सके जब प्रेस सकरी गली से मेन रोड पर आ गया। ससुर साहेब की हिदायतों ने मालिक को जीवन-दान दे दिया। उनके चेहरे पर नई मशीनो सी चमक दिखलाई देने लगी। चाल में रोब आ गया। स्वर में प्राण गये। रूपलाल चकित सा रह गया। नौकरों की मालिक के सन्मुख खुलकर बोलने की शक्ति यूँ लोप हो गई जैसे पहले कभी थी ही नहीं। अब नये नौकर तो क्या पुराने मुच्छाड़ियों की बात करने में तनी मूछें ढीली पड़ने लगीं।

मालिक जब रोब से डपट देते, तो सारे कर्मचारियों के मध्य सन्नाटा खिंच जाता।

यह सारा कारोबार नया शीशे की तरह चमकता था बौना ही उस नयी दुनियां में बड़ा अजीब सा लगता था। मालिक उनसे प्रसन्न था। वही सारी कलों की जान था सारा कारोबार उसी के इशारों पर चलता था।

बौना अब इन बदली हुई नयी मशीनों के मध्य कुछ भयभीत सा, डरा डरा रहता था। उसके मानस का भय झुर्रीदार चेहरे पर व्यक्त न हो पाता था। वह स्वतः को अनुपयुक्त सा समझने भी लगा। रूपलाल से वह जब तब कहता, रूपलाल अब तू मेरा उस्ताद बन गया ये नई मशीनें तेरी गुलाम बन गई है।

रूपलाल हँसकर उत्तर देता, वाह उस्ताद अब तो मजाक छोड़ो!

फिर जैसे बौना कुछ कहना चाहता, किन्तु मौन हो जाता और मुस्करा भर देता।

एक दिन बौने की परास्त भावनाएँ नई मशीन के सन्मुख हार गईं। बौना जो मशीन में फँसा तो उसकी लाश ही निकली।

रूपलाल उस दिन फूट-फूटकर रोया। उसका उस्ताद मशीन के भेंट क्या हुआ जैसे सब कुछ उस मशीन के पैरों तले रौंदा गया।

यद्यपि अब वह पहले का रूपलाल नहीं था। अवारा रूपलाल नहीं था। वह रूपलाल सयाना दो बच्चों का बाप था।

रूपलाल के आँसू बहते रहे। और अवारों की नाईं उस जालिम कल के सामने खड़े हो उसने उसे बड़ी गालियाँ सुनाईं। खूब कोसा। धिक्कारा उस मशीन को जिसने उसके उस्ताद को चबा कर लाश बना दिया था। उसके ऐसे उस्ताद को जिसने जीवन भर कलों की सेवा की, अपना तोला तोला खून दिया। दिल और चेहरे पर झुर्रियां भर लीं। आज उसी कृतघ्न मशीन ने उसके सूखे हुए उस्ताद का गोश्त तक न छोड़ा, उसे पीसकर कीमा कर दिया।

मालिक उसके पीछे खड़ा गालियाँ सुनता रहा। जब मालिक ने यह अनुभव सा किया कि इसकी भावुकता मशीन को कोई क्षति पहुँचा सकती है तब उसने धीरे से रूपलाल की पीठ थपथपाई। रूपलाल पहले तो चौंका किन्तु उसकी भावुकता सिकुड़ती-सिमटती बर्फ की नाईं ठण्डी और ठोस पड़ गई।

बहुत वर्षों बाद रूपलाल ने मालिक के खिले-मुस्कराते चहरे पर उदासी की हलकी गर्द देखी। ऐसी गर्द जो नई मशीनों पर जब तब जम जाया करती थी। झाड़न के दो-चार हाथ जिसे हटा देने के लिये पर्याप्त थे।

दूसरे दिन रूपलाल काम पर न आ सका। तीसरे दिन वह फिर भी कुछ उदास सा काम पर आया। पहुँचते ही मालिक के कमरे में उसकी याद की गई। रूपलाल ने मालिक के सुसज्जित कमरे में प्रवेश किया। रूपलाल को कुछ आश्चर्य भी हुआ। वह धूल इतने शीघ्र गायब भी हो चुकी थी। मालिक सदा की नाईं प्रसन्नमुख थे। स्वर में कुछ थोड़ा सा शोक और पीड़ा का लेखन था। चार छै वाक्यों की भूमिका के बाद मालिक ने सूचित किया कि उस्ताद के रिक्त स्थान पर वह कार्य करेगा।

मालिक के नेत्र उसके मुख पर प्रतिक्रिया भांपने के लिये स्थिर हुए किन्तु रूपलाल एक लम्बा सलाम दाग कर चला आया। आकर वह उस मशीन के समक्ष खड़ा हो गया जिसने उस्ताद को निगला था। मशीन पर रक्त का एक भी छींटा न था। वह धो दी गई थी। साफ कर दी गई थी और मालिक के चहरे की नाईं चमक रही थी। इस बार उसकी आंखों से दो बूँद जल गिरे। उसने झट जल पोंछ दिया। अपने काम पर जा लगा।

अब रूपलाल को सारे कर्मचारी उस्ताद कहते हैं। रूपलाल नहीं चाहता कि कोई उसे उस नाम से संबोधित करे। कोई माने भी क्यों, वह तो एक पद-मात्र है। उसके ना करने से क्या होगा, जब उस के स्थान पर कोई पदासीन होगा तो...!

अब रूपलाल चार बच्चों का बाप है। उसका अपना एक बेटा आज इसी प्रेस में काम कर रहा है। वह लाख न चाहे तब भी क्या! उसकी तमाम जरूरतें जो मुँह बाये उसे घेरे हैं। उसकी आंखों पर चश्मा चढ़ गया है। उसके चहरे पर झुर्रियां छा गई हैं। उसकी कमर झुक गई है। पैंतीस वर्ष की लगातार मेहनत ने उसे पीस दिया है। वह स्वयं अब बौना सा लगता है। उसके अपने बेटे में वह दो रुपये वाले युग के रूपलाल की झलक देखता है। वह फिर भी बौने उस्ताद की नाईं मौन रहा आता है।

मालिक रूपलाल को बेहद चाहता है। वह रूपलाल की बात कभी नहीं टालता। वह मालिक के कमरे में बे-रोक-टोक जब जी आये आ-जा सकता है।

रूपलाल चला भी जाता है। मालिक भरी मुस्कुराहट के साथ ऊँची आवाज में रूपलाल का स्वागत करता है। कभी-कभी मचले से पान भी खिला देता है। जब अधिक प्रसन्न होता है तब चाय भी पिला देता है।

रूपलाल जब भी मालिक के कमरे में प्रवेश करता है, उसे मालिक का वह मलिन मुख याद आ जाता है जब वह टीन की कुर्सी में बैठा करता है। तब रूपलाल उस मनहूसियत को देखकर हँस दिया करता था। तब मालिक की स्वाभाविक मुस्कराहट उस पर अट्टहास करती सी लगती है, इस परिवर्तन पर, इस विरोधाभास पर। उसे लगता है यह अदला-बदली कैसी...! और फिर आगे वह सोचता नहीं। मौन रहा आता है।

रूपलाल नहीं चाहता कि उसे मालिक के कमरे में प्रवेश भी करना पड़े। मालिक की स्वाभाविक मुस्कराहट का सामना करना पड़े। वह उसे किसी बात की याद दिलाती है। चुनौती देती है।

लेकिन वह उस्ताद है। वह न जायेगा तो जायेगा कौन?

आज फिर जब रूपलाल पहुँचा मालिक दोस्तों के मध्य ठहाके मार रहा था। रूपलाल दरवाजे ही से चला आया। उसकी हिम्मत न पड़ी।

मालिक ने ऊँची आवाज में कहा; क्या काम है उस्ताद! रूपलाल के मुख से निकल पड़ा; यूँ ही...!

ओह मालिक फिर दोस्तों के साथ हँसने लगा। सदा की नाईं दोस्तों को रूपलाल का परिचय देने लगा। यार बड़ा अच्छा आदमी है...। हीरा है...। एक और ऐसा आदमी मिल जाय तो शहर पर छा जाऊँ...।

और रूपलाल बाहर खड़ा खड़ा अपनी प्रसंशा सुनता रहा। मौन...। जैसे कुछ सोच रहा हो। 'बड़ा अच्छा' का अर्थ लगा रहा हो।

ग्रहण के बाद

दीनदयाल की आयु सोलह साल या सत्रह वर्ष की थी। आजकल सोलह वर्ष की आयु एक विशेष अर्थ रखती है। भले ही स्वयं दीनदयाल अपनी इस आयु द्वारा अपने सिर से टिकी जिम्मेदारियों को न समझ सके; किन्तु इतने ही से वह बोझ आगे तो नहीं बढ़ जाता। उलटा समय के हर बढ़ते पग के साथ बोझिल होता जाता। आज के विषम युग में जब जी तोड़ मेहनत के बदले मानव अपना ही पेट नहीं चला पाता तब दीनदयाल एक मामूली से क्लर्क का तीसरा लड़का रहकर रास्तों पर चैन से कव्वालियाँ गाता फिरे, यह कौन सहनकर सकता था। दीनदयाल की अपनी समझ अपने इस कुसूर को नहीं समझती थी, किन्तु प्रतिदिन उसके मोहल्ले बिरादरी के लोग, नाते रिश्तेदार, स्वयं उसके पिता और घर की तमाम औरतें गल्ले के भाव, समय की हालत के बहाने समझाया करती थीं। इन समझाने के तरीकों में गालियों से लेकर धौल-धप्प की विधियों तक का प्रयोग किया जाता था।

किन्तु दीनदयाल की मोटी चमड़ी पर किसी भी प्रयोग का निशान जमकर बैठ नहीं सकता था। जब वह तीसरी अंग्रेजी में पहुँचा था, तब दो माह की फीस न भर सकने के जुर्म से स्कूल से निकाल दिया गया था। वह खूब रोया चिल्लाया था लेकिन उसकी चीखों की उसके रिश्तेदारों ने वैसी ही उपेक्षा की थी जैसा वह स्वयं आज उनकी नई सलाह की कर रहा

था। जब वह पढ़ा करता तब उसे उठाकर राशन लेने भेज दिया जाता। जब स्कूल का समय होता तो घर का काम सौंप दिया जाता। गैरहाजिरी लगती, बेतें लगतीं और डाँट पड़ती। दीनदयाल मन ही मन रोता और आँसू तक न बहाता। आख़िर नाम कट गया, हारकर सभी के आगे दीनदयाल ने आँसू बहाये, खूब आँसू बहाये, सभी ने उसे कोरा जल समझा। सो उसी दिन से दीनदयाल के आँसू भी समाप्त हो गये, उदासी मिट गई, भीतर का दर्द भाग गया। एक खिली हँसी मुख पर बिखर गई, जिसे युग की दृष्टि से लोगों ने मोटी बेशर्मी कहा। दीनदयाल ने सिर झुकाकर कुबूल किया।

उसने कसम खा ली, मान लिया, हाँ बेशर्मी ही सही। कब्बालियाँ गाना और रास्ते नापना। कोई डाँटता रहे, दपटता रहे, पीट भी दे, तो भी क्या, दीनदयाल तो अपना रास्ता चुन चुका था। पिता कहते, बेटा समझ से काम ले·····।

दीनदयाल जवाब में खिसक जाता। अपने पुराने अड्डे मामू की दूकान पर आ जमता। मामू दर्जी था, बड़ा ऊँचा कारीगर था। उसे फ़ुरसत ही फ़ुरसत रहती थी। स्वभाव से मिलनसार था किन्तु इस छोटे से जाँत-पाँत वाले शहर में अपनी जाति के कारण अधिक मिलनसार बन गया था। जिससे तकरार होती वही तुनक उठता, चला जा पाकिस्तान·····। सो शहद में शक्कर घोल दी गई थी।

इस शक्कर घुली शहद की दुकान पर दीनदयाल और उसके हमजोलियों की बैठक जमा करती थी। मामू का एक ही शौक था; बस कब्बालियाँ बनाना और धुनों पर चढ़ाना। मामू के कुरतों की काट आस पास के इलाके में अपनी सानी नहीं रखती थी, लेकिन फिर भी मामू को अपनी कब्बालियों पर नाज़ था। उसे अगर कोई मास्टर कह देता तो वह उसे रूखी तबियत का आदमी समझता। हाँ कब्बाल कहने पर उसकी

तबियत खिल जाती। झट कोई नई तर्ज सुनाने के अन्दाज में गुनगुनाने लगता। मामू अपने को सच्चा कलाकार समझता था। यह सौ प्रतिशत सच्ची बात भी थी। यही बात थी जिसके कारण, युग की विषमता उसके रास्ते में अपना प्रभाव न जमा सकी। मामू अकेला स्वतन्त्र तबियत का जीव था। गुज़ारा चल गया बस उसका काम चल गया।

मामू की दूकान दीनदयाल और उसके हमजोलियों की बैठक थी। यह दूकान बैठक के रूप में मामू की तबियत ही से बदली थी। दीनदयाल मामू के विशेष कृपा पात्रों में से था। दीनदयाल के स्वर में रस था, कसक थी, साथ ही ऊँची उड़ान थी। मामू हुनर पर जान देने वाले व्यक्तियों में से था। दीनदयाल की आवाज मामू की कब्बालियों में प्राण फूँक देती थी। मामू इसीलिये दीनदयाल की इज्जत करता, उसका फालतू खर्च बर्दाश्त कर लेता। कहा करता; बेटे इज्जत से ऊँची कोई कीमत नहीं। तुझमें हुनर है। गोया कि तुझ पर खुदा का साया है। चाहे जमाना और भी बदतर क्यूँ न हो जाये, लेकिन तू भूखा न मर सकेगा; तेरी रोटियाँ जुटाने की फिक्र अल्लाह करेगा।

बस यही बातों का प्रभाव था जो दीनदयाल पर ज़ादू का सा असर दिखाता। वह बाप और भाइयों की फटकार को भूल जाता था। निश्चिन्त सा दूकान में जमकर बैठ जाता और काज–बटन बनाने में मामू की सहायता कर देता।

मामू दीनदयाल को भुलावे में लटकाये रहने के लिये ऐसी बात करता, सो बात नहीं थी। उम्र भी उसकी मजाक करने की नहीं थी। उसका कुछ विश्वास ही था। यथार्थ में वह कला का उपासक था।

लेकिन दीनदयाल के पिता चीजों को अपने तरीके से देखने वाले प्राणियों में से थे। दीनदयाल की पढ़ाई छूटने पर उनके नेत्र सजल न हुए

हों, यह बात नहीं थी। उनका बड़ा पुत्र बिना मैट्रिक पास किये चुँगी में मुन्शीगिरी करने लगा था यही उनको दुखी करने के लिये पर्याप्त था। तीन कँवारी बेटियां थीं, एक विधवा बहन थी, उसके बच्चे थे। इन सबका बोझ नब्बे रुपये की क्लर्की पर टिका हुआ था। बड़ा पुत्र यदि कमाता था तो उसकी पत्नी भी साथ थी। दीनदयाल कव्वालियां गाता फिरता था।

दीनदयाल के पिता रामदयाल जी मामू से बेहद चिढ़ने लगे थे। कुछ वे समझते थे, कुछ लोग उन्हें समझाते थे कि इस बेईमान दर्जी ने मोहल्ले के सारे लड़कों को बर्बाद कर रक्खा है। उन्हें भी यह बात जंचती। लगता सही है, वह अपनी जात की करामात तो बतलायेगा। फिर लगता, तब इससे क्या, जब अपना ही माल खोटा है, तो किससे क्या कहा जाय।

किन्तु लोग अपने खोटे सिक्के को हर प्रकार से चलाने का प्रयत्न तो करते ही हैं। फिर रामदयाल जी ऐसे सुअवसर को भला कैसे हाथ से जाने देते। वे मामू के पास पहुँचने का विचार करने लगे। इसके पूर्व वे मामू की दूकान दो तीन बार हो आये थे। जब-जब उसकी दूकान गये उनके साथ मोहल्ले का धार्मिक प्रवृत्ति वाला कोई न कोई सज्जन अवश्य रहा। दोनों मामू की दूकान के सामने पहुँचते। मामू कैंची चलाना बन्द कर कोमल मुस्कराहट मुँह पर फैलाये अभिवादन करता।

उत्तर में ये कहते; अबे मामू के बच्चे, तू बड़ा उल्लू है...।

मामू का कव्वालियों की नाईं सुकोमल हृदय मौन ही रहा आता। उस पर गालियों से मढ़े हुए इलजाम लगाये जाते। कहा जाता, वह जान बूझकर दीनदयाल की जिन्दगी बर्बाद कर रहा है।

मामू कोई उत्तर न देता। मौन रहता। वे जब बकते-बकते थक

जाते या ऊब जाते तब चले जाते। अपने भीतर की झल्लाहट को इस प्रकार व्यक्त करने के बाद उन्हें थोड़ा संतोष प्राप्त होता, शान्ति मिलती।

यही रामदयाल जी घर पर किया करते। रोज कुछ न कुछ अभाव लगा रहता था। किसी न किसी वस्तु की कमी बनी ही रहती थी। किन्तु रामदयाल से कहने की हिम्मत कौन कर सकता था। उनका पारा सदा चढ़ा रहता, और ऐसी बातों से एक दम भड़क उठता। इन अभावों को कैसे पाटा जाय यह विषम समस्या हो गई थी। बस उन्हें केवल एक ही पहाड़ा याद था, इसलिये वे उसे सुना देते। कहते; दीनदयाल का यहां खाना-पीना बन्द। कोई जरूरत नहीं उसकी इस मकान में। जवान हो गया है लेकिन धेले का काम नहीं करता। सारी बिरादरी थूकती है। उस दर्जी की दूकान पर जूठी थालियां धोया करता है।

दीनदयाल की मां मुँह लटकाये सुनती रहती कुछ बोलने की हिम्मत न करती।

तब रामदयाल उसी पर बिगड़ उठते। तेरे ही लाड़ ने उसे बिटाया है। कभी धेला दे दिया कभी पैसा। आज फिर मैं कहता हूँ उसे मत खिला रोटी, लेकिन तुझे इसकी परवाह नहीं। बिगाड़े जा मेरा क्या...?

माँ चुपचाप सुनती रहती। रामदयाल जी का पेट गुस्से से इतना अधिक भर जाता कि उन्हें खाना खाने की आवश्यकता अनुभव न होती। अपनी काली गोल टोपी सिर पर चढ़ा दफ्तर चल देते।

उन्हें रोकने की कोई हिम्मत न कर सकता। जब रामदयाल जी दरवाजे के बाहर हो जाते, तब उदास सी बनी मौन मां; अपनी बेटियों पर बिगड़ती। ये उन बेटियों ही का कुसूर है जिनके कारण उसके बेटे को चैन से एक पहर खाने नहीं मिलता है। चोरों की तरह लुका-लुका फिरता है। बाप के सामने घर नहीं आ सकता। कभी आराम से पेट भर खा नहीं सकता।

बहनें आपस में मैं...मैं...तू...तू...करने लगतीं। मां उनका जबाब दिये बगैर बकती जाती। मां अपनी बेटियों पर गुस्सा उतारती किन्तु अधिक बातें बेटियों की आड़ लेकर अपने पति की विधवा बहन को सुनाती। उत्तर में विधवा बहन अपने निर्दोष बच्चों को पीटती। अपने भाग्य पर जोर-जोर से रोना शुरू कर देती। उस घर के भीतर बाहर का वातावरण ऐसा मलिन और विकृत हो जाता कि जिसे पल भर के लिये स्थिर होकर देख लेना कठोर से कठोर हृदय मानव के लिये एक चुनौती बन जाती। करीब बारह प्राणियों का सम्मलित समुदाय चहार दीवारियों के मध्य अपनी बाबूगिरी की लाज छिपाये हुये संघर्ष के पाटों के मध्य ऐसा कस गया था, जहां से बच निकलना एक व्यर्थ की बात बन गई थी। आठों पहर की चिन्ता का एक मात्र कारण केवल रोटी मात्र था। किन्तु बारह प्राणियों का पौरुष आज उसके मुकाबले में परास्त हुआ केवल आँसू बहा रहा था। उनके नेत्रों का हर जलकण उन्हें मृत्यु की ओर लिये चल रहा था। आशायें, विश्वास, भावनायें, धीरे-धीरे जीवन के भीतरी पर्दे पर से मिटती चल रही थी। बस एक झूठी व्यवस्था का झिलमिल पर्दा जो पड़ा था वह सारे के सारे प्राणियों से नहीं नष्ट किया जा रहा था।

वे चाहते तो अपनी इस समस्या का हल स्वयं निज की मिहनत के द्वारा हल कर सकते थे। किन्तु संस्कारों की रक्षा के लिये संघर्ष करना अधिक न्याय संगत लग रहा था।

* * *

रामदयाल जी ने अपने बिगड़े हुए बेटे को रास्ते पर लगाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। एक दिन वे पुनः मामू की दुकान पर पहुँचे। उस समय मामू एक कुरते की बाँह काट रहा था। उसने कैंची रोक दी और गालियाँ खाने के लिये दुकान से सम्हलकर उतरने लगा। दो-एक छोकरे जो केवल बैठे हुए थे धीरे से खिसक गये। बस मामू को लग रहा था कि अब गालियों की बौछार शुरू होती है अब...।

किन्तु उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। रामदयाल जी ने कहा; मैं तुमसे कुछ बातें करने आया हूँ। उनकी आवाज में कुछ बनी हुई नर्मी थी।

मामू ने बड़ी सरलता से उत्तर दिया फरमाइये...।

रामदयाल जी ने बात सीधी-सीधी कह डाली। दीनदयाल अब चपरासी गिरी के लायक भी नहीं रह गया है। उधर उम्र बढ़ रही है। साल दो साल बाद बिरादरी में लड़की ढूँढे न मिलेगी। जन्म भर कुवाँरा रहना पड़ेगा। यह मेरे लिये बहुत बड़े शर्म की बात होगी।

मामू अवाक सुन रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि जो व्यक्ति उसकी दुकान पर आकर बेमतलब सरलतापूर्वक उसे गालियाँ सुना जाया करता था, वही आज अपने घर के रहस्य बड़े विश्वास के साथ कहे जा रहा है।

मामू को कौतूहल होता रहा, साथ ही कुछ प्रसन्नता भी। वह दीनदयाल से स्नेह करता था। आज दीनदयाल का पिता उसे अपना विश्वासपात्र समझ घर के रहस्य स्वय उस पर खोल रहा है।

मामू ने धीरे से कहा; तो आपने क्या तय किया है? रामदयाल ने सधे हुए स्वर में कहा; मैं चाहता हूँ तुम उसे अपना हुनर सिखला दो मैं उसकी शादी कर दूँगा।

मामू बोले; अब उसे मैं क्या सिखला दूँ; वह तो अपने आप बैठे बैठे बहुत कुछ सीख गया। आपकी बिरादरी और ओहदे का डर था वर्ना वह दूकान पर बैठकर काम करना चालू कर देता। अब आपने हुक्म दे दिया। छै महीने बाद देखिये किस तरीके का कारीगर निकलता है वह। रामदयाल जी मौन रहे; मामू ने जो उनके ओहदे के स्वाभिमान की

बात उन्हें याद दिलाई; तो सच में अभिमान का कोरा भाव उनकी मुख-मुद्रा पर अंकित हो गया। उन्होंने मौन ही रहना उचित समझा। घर की राह ली।

* * *

बिगड़े हुए लड़के को सुधारने का एक ही नुस्खा इस देश में प्रचलित है। निश्चय बात है कि उससे प्रभाव अब तक बाकी है अन्यथा वह सिक्का अब तक चालू क्यों रहता।

रामदयाल ने भी दीनदयाल के ब्याह की बात पक्की कर दी। वे रुपये इस कुनबे के खर्चे के लिये पर्याप्त थे नहीं। दिन-रात घर के सभी सदस्य एक दूसरे पर खिजलाते रहते थे। एक दूसरे पर क्रोधित रहते थे। ऐसे वातावरण के मध्य जब रामदयाल जी ने ब्याह का प्रस्ताव रक्खा; तो सभी ने इसकी प्रसंशा की। मां तो इतनी प्रसन्न हुई जैसे किसी ने उसे मोतियों का हार दे दिया।

ये बात किसी ने नहीं चलाई कि जब अभी इतने प्राणियों का पेट नहीं पल रहा है; तब मुफ्त में एक प्राणी क्यों बढ़ाया जाय। व्यर्थ की भला सिर पर क्यों लादी जाय।

हां दीनदयाल के बड़े भाई ने जो चुँगी में काम करता था विरोध किया।

मां-बाप दोनों उस पर बिगड़ पड़े; स्वार्थी है! यही था तो तूने क्यों ब्याह किया! वह बेचारा चुप हो रहा। कुछ न बोला।

दोनों इकट्ठे बड़बड़ा उठे, अरे जब भगवान ने पैदा किया है, तो खुद ही देगा। फिर दीनदयाल भी अच्छा काम सीख रहा है।

माता बोली--हाँ मैंने भी सुना है।

रामदयाल बोले—अरे सीख भर लेने दे काम। एक मशीन ले दूँगा। मामू की बराबरी से दूकान दिला दूँगा। वरन, मामू क्या करेगा।

रामदयाल तुनक पड़े, जी चाहेगा चला जायेगा, जी चाहेगा रहेगा। हमें इससे क्या!

रामदयाल जी सब बक गये। यहीं बातें समाप्त हो गईं। ब्याह की तैयारियाँ भी शुरू हो गईं।

* * *

रामदयाल की पूरी योजना सफल हो गई। उन्हें विश्वास था कि ब्याह से मशीन खरीदने लायक पैसे दहेज स्वरूप मिल जायेंगे। खैर मिले, पच्चीस-पचास की कसर थी। रामदयाल ने स्वयं पूरे किये। ब्याह के बाद मामू घर जाने लगा था। मामू की यदि बकरा छाप दाढ़ी न होती तो यह कोई सन्देह न कर सकता कि वह इस कुनवे का जिम्मेदार सदस्य नहीं है। पूरे पन्द्रह दिन मुफ्त उसके दूकान की मशीन ने ब्याह के कपड़े तैयार किये थे। उसने स्वयं अपनी ओर से एक बढ़िया जोड़ा दूल्हा और दुलहन के लिये तैयार किया था। बारात के बीच अपने साथियों के साथ दर्जनों कब्बालियों से बारातियों का जी बहलाया था। और दूसरी सहायता वह दे नहीं सकता था। क्योंकि वहां छुआ-छूत का भूत तैयार रहता था। केवल असमर्थता थी।

मामू अत्यधिक प्रसन्न था। उसके कोई आगे-पीछे भी नहीं था। वही एक दूकान थी। बस गुजारा चलता था। दीनदयाल से उसका स्नेह

था; उसका ब्याह क्या हुआ, मामू को लगा जैसे उसने अपने बेटे का ब्याह कर डाला।

* * *

इधर ब्याह समाप्त हुए पन्द्रह दिन भी नहीं बीते। दीनदयाल पर छा गई जिम्मेदारियाँ उसे दुहरा दुहराकर सुनाई जाने लगीं।

दीनदयाल के जीवन में इस ब्याह के पश्चात् परिवर्तन अवश्य हुआ था, किन्तु परिवर्तनों के नाम पर क्रान्ति नहीं हुई थी। उसने स्पष्ट अपने पिता से पूछा; आखिर आप मुझसे क्या चाहते हैं। मैं यथाशक्ति कार्य करता हूं, और क्या करूँ !

रामदयाल ने भी स्पष्ट उत्तर दिया, अब तू मामू की दूकान पर काम नहीं कर सकता। तेरा ब्याह हो चुका है बिरादरी में ऊँच-नीच हो जायगी। तू खुद अपनी दूकान खोल ले।

दीनदयाल अवाक् रह गया। वह इस बात की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस मामू को वह छोड़ कैसे दे जिसने उसे इंसान बनाया, स्नेह दिया, सहारा दिया !

दीनदयाल ने कहा—यह मुझसे न होगा।

रामदयाल बोले; क्यों ! तेरी आमदनी बढ़ जायेगी। वक्त को पहचानकर बात कर, यदि उसके साथ तू भी बदनाम हो गया तो कहीं का न रहेगा।

दीनदयाल बोला; मुझे इसकी परवाह नहीं·· !

गुस्से में रामदयाल ने कहा; निकल जा मेरे घर से; बेशर्म···! लुच्चा बकते गये।

घर में कुहराम मच गया। दीनदयाल की नयी पत्नी भय से काँप उठी। एक शोर सा उठने लगा।

* * *

और सत्रह साल का दीनदयाल सामाजिक अनाचारों के ग्रहण के प्रभाव से बचने के लिये पत्नी सहित उस चहर दीवारी के बाहर चला आया।

भीतर हल्ला बढ़ता रहा; जैसे ग्रहण का दान माँगा जा रहा था। किन्तु दीनदयाल ने पीछे की किंञ्चित् मात्र भी परवाह न की। वह बढ़ता ही चला गया।